सत्यानन्दग्रन्थमालायास्तृतीयं पुष्पम्

जगद्गुरुश्रीमदाद्यशङ्कराचार्य-विरचितः

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः

★

श्री ... ग्रन्थालय ...
९२२६
...

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य
श्रीस्वामिसत्यानन्दसरस्वतीप्रणीतभाषानुवादेन सहितः

प्रकाशक—
स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः

द्वितीयावृत्ति,
महाशिवरात्रि, संवत् २०४२
मूल्य रुपया १२)

[© अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणाद्यधिकारः प्रणेत्रा स्वायत्तीकृतः]

प्राप्ति-स्थान—१–गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी (उ० प्र०)
२–स्वामी सूरतगिरि बङ्गला, कनखल (हरिद्वार)
३–मन्दिर पञ्चवक्त्र जम्मू-तवी (जम्मू काश्मीर)

मुद्रक
शंकर राम शिव प्रेस,
ए. १०/२५, प्रह्लादघाट, वाराणसी

2228
6

आमुख

श्रीमदाद्य शङ्कराचार्यविरचित "सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह" वस्तुतः यह सम्पूर्ण वेदान्त-उपनिषत्सिद्धान्तोंका सार संग्रह ही है, जैसे लोकोपकारार्थ मधुकर विविध पुष्पोंका सार संग्रह करता है, ठीक वैसे ही भगवत्पाद शङ्कराचार्यने समस्त उपनिषत्सिद्धान्तोंका सार संग्रहकर मानवसमाजका महान् उपकार किया है, यह ध्रुव सत्य है।

संसारमें प्रत्येक प्राणी नित्य व निरतिशय सुखकी कामना करता है। भला वह सुख इन क्षणिक जड़ पदार्थोंसे कैसे प्राप्त हो सकता है? परम शान्तिका मुख्य साधन तो आत्मैकत्वज्ञान ही है, दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति व परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष तो केवल अद्वैत ज्ञानसे ही होता है—यह बात 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (गीता ४।३९)। 'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। (गीता ४-३८)। 'आत्मलाभान्न परम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्म वेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति, स्मृतियोंसे सिद्ध होती है। इस प्रकार उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैक्यज्ञानका ही इस ग्रन्थमें प्रतिपादन है।

इस ग्रन्थकी रचना गुरुशिष्य-संवादरूपसे ऐसी सुन्दर, सरल, सुबोध शैलीमें की गई है जिससे साधारण संस्कृतज्ञ भी लाभ उठा सकते हैं। संस्कृत न जाननेवालोंके लाभार्थ इसका राष्ट्रभाषामें अनुवाद कर और तदनुरूप उपयोगी अंशोंको यथास्थान जोड़कर इसे इतना सरल व बोधगम्य किया गया है कि थोड़ी राष्ट्रभाषा जाननेवाले भी आशातीत लाभ उठा सकते हैं। इसमें १००६ श्लोक हैं। उनमें विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्तिशम, दम, तितिक्षा, मुमुक्षुता, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, सप्तभूमिका आदि विविध विषयोंका सरल रीतिसे साङ्गोपाङ्ग वर्णन है।

भगवान् शङ्कराचार्यने धर्मविप्लवको शान्त कर लुप्तप्राय वैदिक धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की। वस्तुतः वे धर्मशासक, कर्मठ, युगप्रवर्तक, साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रोंके मर्मज्ञ, अखण्ड भारतके संस्थापक एवं दैवीशक्तिसम्पन्न सिद्ध योगी महान् युगपुरुष थे।

'व्युप्तकेशाय च नमः' (शु० य० रु० ५।४)। मुण्डित केशोंवालेको नमस्कार।

मदंशजातं देवेषि कलावपि तपोधनम्। केरलेषु तथा विप्रे जनयामि महेश्वरि॥

(स्कन्द० पु०)

कल्यादौ द्विसहस्रान्ते लोकानुग्रहकाम्यया। चतुर्भि सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति॥

(भवि० पु०)

विप्रभैरवदत्तस्य गेहे गत्वा स वै शिवः। तत्पुत्रोऽभूत्कलौ घोरे शङ्करो नाम विश्रुतः॥
चतुर्भिः सह शिष्यैश्च शङ्करोऽवतरिष्यति। व्याकुर्वन् व्याससूत्राणि श्रुतेरर्थं यथोचितम्॥ (सौ० पु०)

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले। स एव शङ्कराचार्यः साक्षात्कैवल्यनायकः॥
मनोरथं पूरयिष्ये मानुष्यमवलम्ब वः दुष्टाचारविनाशाय धर्मसंस्थापनाय च॥

इत्यादि श्रुति-स्मृतिसे यही सिद्ध होता है कि वे शङ्करके साक्षात् अवतार हैं। भगवत्पाद शङ्कराचार्यका साङ्गोपाङ्ग जीवनचरित हमारे द्वारा रचित व संपादित 'श्रीशङ्कर-दिग्विजय' में देखिये।

आचार्य शङ्कर विरचित ग्रन्थोंको भाष्य, स्तोत्र एवं प्रकरण इस भेदसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। उन्होंने उपनिषत्प्रतिपाद्य अद्वैत मतकी गरिमा व प्रतिष्ठा के लिए श्रुति, स्मृति तथा सूत्रोंपर प्रसन्न व गम्भीर भाष्यकी रचना की। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र ये प्रस्थानत्रयी कहे जाते हैं। इन तीनोंपर भाष्यकी रचनाकर इन्हें सरल व बोधगम्य बनाया। शिवस्तोत्र, गणेशस्तोत्र, देवीस्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र ग्रन्थोंकी और अपरोक्षानुभूति, उपदेशसाहस्री, विवेकचूडामणि, आत्मबोध आदि अनेक प्रकरण ग्रन्थोंकी रचना की। यदि वेदान्तप्रेमियों एवं मुमुक्षुजनोंको इससे किञ्चिदपि लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूंगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह

विषय	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१
अनुबन्धनिरूपण	२
साधन-चतुष्टय	३
शमादि षट् सम्पत्ति	१७
मनप्रसाद-साधन	१८
ब्रह्मचर्य, अहिंसा, दया,	
वैतृष्ण्यम्, शौच	१९
ज्ञाननिष्ठा, समत्व, मानानासक्ति,	
एकान्तशीलता, मुमुक्षुता, दम	२१
तितिक्षा	२३
संन्यास	२५
श्रद्धा	३४
समाधान	३५
मुमुक्षुता	३६
गुरुशरण	३९
गुरुके लक्षण	४०
गुरुका अमरवचन	४२
शिष्य:—	४३
श्रीगुरु:—	४४
अध्यारोप, अज्ञान	४७
समष्टि अज्ञान-माया	४८
ईश्वर-कारणशरीर, व्यष्टि-	
अज्ञान अविद्या	४९
प्रत्यगात्मा	५०
ईश्वर और प्राज्ञकी एकता	५१
जगत्-रचना	५२
लिङ्गशरीर	५३
विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश	५५
चित्तप्रसाद	५७
पाँचकर्मेन्द्रिय और उनकी उत्पत्ति	६०
व्यष्टिलिङ्गशरीर और तैजस	६२
स्थूलप्रपञ्च, पञ्चीकरण	६३
ज्ञानेन्द्रियोंकी सामर्थ्य	६५
कर्मेन्द्रियोंकी सामर्थ्य, इन्द्रियोंके देवता	६६
आत्माका स्वरूप	६७
जगत्की उत्पत्तिका प्रकार	
चारप्रकारके प्राणी	६८
स्थूलशरीर-अन्नमयकोश	७०
विश्व और वैश्वानरका अभेद	७१
अध्यासप्रकरण	७३
शिष्य:—	
श्रीगुरु:—	७४
जीवके समान परमेश्वरको बन्ध नहीं	
जीवके बन्धनका कारण अज्ञान	७९
पुत्रात्मवाद, देहात्मवाद	८२
इन्द्रियात्मवाद	८३
प्राणात्मवाद	८४
मन आत्मवाद	८५
बुद्धि-विज्ञानात्मवाद	८६
अज्ञानात्मवाद	८७
ज्ञानाज्ञानात्मवाद, शून्यवाद	८८
शिष्य:—	९०
श्रीगुरु:—शून्यवादनिरास	९१
शिष्य:—	९७
श्रीगुरु:—	९८

विषय	पृष्ठ
बिम्बभूत आनन्द आत्मा है	१०२
आत्मा अद्वितीय है	१०४
विवर्त और अपवाद	१०५
शिष्यः—	१०८
श्रीगुरुः—'तत्, त्वम्'	
पदार्थोंका निरूपण	१०९
लक्ष्यार्थ निरूपण	११३
अजहल्लक्षणाका विचार	११४
भागत्यागलक्षणाकी आवश्यकता	११५
भागत्यागलक्षणाका लक्षण	११६
अखण्डार्थ	११७
यही तत्त्व तू है	११९
शिष्यः—	१२२
श्रीगुरुः—अधिकारीका लक्षण	[illegible]
श्रवणादि निरूपण	१२४
सविकल्प समाधि	१२५
निर्विकल्प समाधि	१२६
दृश्यानुविद्धसविकल्प	१२७
मुक्ति क्या और किसको	१२९
ज्ञाननिष्ठामें कर्मोंका अनुपयोग	१३०
निर्विकल्प समाधि	१३३
बाहरकी समाधिका प्रकार	१३४
योग	१३८
शिष्यका अनुभव	१४०
श्रीगुरुः—ज्ञानभूमिकाका लक्षण	१४२
जाग्रत्में तीन अवस्थाएँ,	
स्वप्नमें तीन अवस्थाएँ	१४४
सुषुप्तिमें तीन अवस्थाएँ,	
तुर्यावस्था	१४५
जीवनमुक्त-विदेहमुक्त	१४६

॥ ॐतत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचित

सर्ववेदान्तसिद्धान्त-सारसंग्रह

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

कृत—

हिन्दी अनुवाद सहित

नमस्तस्मै जगज्जन्मस्थितिसंहारकारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय सर्वप्रत्ययसाक्षिणे ॥ १ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥ २ ॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहमादरात् ।
व्याख्यास्ये भाषया सम्यक्सत्यानन्दसरस्वतो ॥ ३ ॥

अखण्डानन्दसम्बोधो वन्दनाद्यस्य जायते ।
गोविन्दं तमहं वन्दे चिदानन्दतनुं गुरुम् ॥ १ ॥

जिनको प्रणाम करनेसे अखण्ड आनन्दका अनुभव होता है, उन चैतन्य और आनन्दकी मूर्तिस्वरूप गोविन्द नामवाले गुरुको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥ २ ॥

जो अखण्ड-व्यापक सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है तथा मन और वाणीका अविषय है, [क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' (तै० २।९) (मनके साथ वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है) 'नेति नेत्यात्मा' (यह नहीं, यह नहीं, किन्तु यह अवशिष्ट आत्मा है) ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है। इसलिए वह मन, वाणीका विषय

नहीं है] तथा नामरूपात्मक अखिल सृष्टिका जीवनाधार है, ऐसे सर्वगत आत्माकी इष्टसिद्धि (साक्षात्कार) के लिए मैं शरण लेता हूँ ॥२॥

यदालम्बोदरं हन्ति सतां प्रत्यूहसंभवम् ।
तदालम्बे दयालम्बं लम्बोदरपदाम्बुजम् ॥ ३ ॥

जिसकी शरण सज्जनोंके विघ्नोंसे उत्पन्न भयको नष्ट करती है । उस दयाके आधारभूत श्रीगणपतिके चरणकमलोंकी मैं शरण लेता हूँ ॥३॥

वेदान्तशास्त्रसिद्धान्तसारसंग्रह उच्यते ।
प्रेक्षावतां मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥ ४ ॥

विवेकी मुमुक्षुजनोंको सुखपूर्वक (अनायास) आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तोंका साररूप संग्रह कहा जाता है ॥४॥

अनुबन्ध-निरूपण

अस्य शास्त्रानुसारित्वादनुबन्धचतुष्टयम् ।
यदेव मूलं शास्त्रस्य निर्दिष्टं तदिहोच्यते ॥ ५ ॥

यह सारसंग्रह वेदान्तशास्त्रके अनुसार है, अतः वेदान्तशास्त्रके मूलभूत अनुबन्धचतुष्टयका जो निर्देश किया गया है, उसको प्रथम यहीं कहा जाता है अर्थात् किसी भी शास्त्रकी रचनाके पहले—इस शास्त्रसे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी ? यह रचना किसके लिए है ? इसमें किस विषयका वर्णन है ? इनका परस्पर और शास्त्रका क्या सम्बन्ध है ? इन चारोंके बताये विना विज्ञ पुरुषकी शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उन्हें प्रथम कहना चाहिए ॥५॥

अधिकारी च विषयः सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।
शास्त्रारम्भफलं प्राहुरनुबन्धचतुष्टयम् ॥ ६ ॥

विद्वान् कहते हैं—अधिकारी, (शास्त्रोक्त मोक्षरूप फलाभिलाषी) विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन यह अनुबन्धचतुष्टय शास्त्रके आरम्भका फल है ॥६॥

चतुर्भिः साधनैः सम्यक्सम्पन्नो युक्तिदक्षिणः ।
मेधावी पुरुषो विद्वानधिकार्यत्र सम्मतः ॥ ७ ॥

आगे कहे जानेवाले चार साधनोंसे भली-भाँतियुक्त, युक्तियोंमें चतुर, धारणशक्तिशाली विद्वान् पुरुष वेदान्तशास्त्रमें अधिकारी माना गया है ॥७॥

विषयः शुद्धचैतन्यं जीवब्रह्मैक्यलक्षणम् ।
यत्रैव दृश्यते सर्ववेदान्तानां समन्वयः ॥ ८ ॥

जीव और ब्रह्मका एकत्वरूप शुद्ध चैतन्य परब्रह्म ही इस ग्रन्थका विषय है, क्योंकि इसीमें सब उपनिषदोंका तात्पर्य-निश्चय देखा जाता है । इसका विशद वर्णन 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० ४) के शाङ्करभाष्यमें द्रष्टव्य है ॥८॥

एतदैक्यप्रमेयस्य प्रमाणस्यपि च श्रुतेः ।
सम्बन्धः कथ्यते सद्भिर्बोध्यबोधकलक्षणः ॥ ९ ॥

इस जीव ब्रह्मकी एकतारूप प्रमेयका और श्रुतिरूप प्रमाणका विद्वान् लोग बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध कहते हैं ॥९॥

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सन्तः प्राहुः प्रयोजनम् ।
येन निःशेषसंसारबन्धात्सद्यः प्रमुच्यते ॥१०॥

जिसके द्वारा जीव अतिशीघ्र सब प्रकारके संसार बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है, उस जीव ब्रह्मके अभेद ज्ञानको ही विद्वान् लोग वेदान्तशास्त्रके अध्ययन आदिका प्रयोजन कहते हैं ॥१०॥

प्रयोजनं संप्रवृत्तेः कारणं फललक्षणम् ।
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ॥११॥

फलरूप प्रयोजन सम्यक्प्रवृत्तिका हेतु है, प्रयोजनके विना मन्दबुद्धि पुरुष भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता ॥११॥

साधन-चतुष्टय

साधनचतुष्टयसम्पत्तिर्यस्यास्ति धीमतः पुंसः ।
तस्यैवैतत्फलसिद्धिर्नान्यस्य किञ्चिदूनस्य ॥१२॥

जो बुद्धिमान् पुरुष साधनचतुष्टय सम्पत्तियुक्त है, उसीको इस वेदान्तशास्त्रके जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञानरूप फलकी सिद्धि (प्राप्ति) होती है । किन्तु साधनचतुष्टय सम्पत्तिमेंसे किसी एक साधनकी कमीवाले पुरुषको अभेद ज्ञानरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

चत्वारि साधनान्यत्र वदन्ति परमर्षयः ।
मुक्तिर्येषां तु सद्भावे नाभावे सिध्यति ध्रुवम् ॥१३॥

इस वेदान्तके ज्ञान प्राप्तिमें महर्षिलोग चार साधन कहते हैं, उन चार साधनोंके होनेपर मुक्ति होती है और न होनेपर मुक्ति नहीं होती, यह बात ध्रुव है ॥१३॥

आद्यं नित्यानित्यवस्तुविवेकः साधनं मतम् ।
इहामुत्रार्थफलभोगविरागो द्वितीयकम् ॥१४॥
शमादिषट्कसम्पत्तिस्तृतीयं साधनं मतम् ।
तुरीयं तु मुमुक्षुत्वं साधनं शास्त्रसम्मतम् ॥१५॥
ब्रह्मैव नित्यमन्यत्तु ह्यनित्यमिति वेदनम् ।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक इति कथ्यते ॥१६॥

नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक यह पहला साधन माना गया है । इस लोक तथा परलोकके फलभोगमें वैराग्य यह दूसरा साधन है, शम, दम आदि षट् सम्पत्ति यह तृतीय साधन कहा गया है और मुमुक्षुता यह वेदान्तशास्त्र सम्मत चौथा साधन है ॥

ब्रह्म ही नित्य है तद्भिन्न सब अनित्य ही है, ऐसा जो ज्ञान, उसीको नित्यानित्य वस्तु-विवेक कहा जाता है ॥१४-१६॥

मृदादिकारणं नित्यं त्रिषु कालेषु दर्शनात् ।
घटाद्यनित्यं तत्कार्यं यतस्तन्नाश ईक्ष्यते ॥१७॥
तथैवैतज्जगत्सर्वमनित्यं ब्रह्मकार्यतः ।
तत्कारणं परं ब्रह्म भवेन्नित्यं मृदादिवत् ॥१८॥

मृत्तिका आदि कारण (उपादानकारण) तीन कालमें देखनेसे नित्य हैं, मृत्तिका आदिके कार्य घट आदि अनित्य हैं, क्योंकि मृत्तिका आदि कारणोंकी विद्यमानतामें भी उनका नाश देखनेमें आता है। उसीप्रकार यह समस्त जगत् ब्रह्मका कार्य होनेसे अनित्य है, तो जगत्का कारण परब्रह्म मृत्तिका आदिके समान नित्य होगा। यहाँ मृत्तिका आदि कारणोंमें नित्यत्वका प्रतिपादन मुख्य नहीं है, किन्तु कार्यकी अपेक्षा अधिक समय तक विद्यमान होनेसे सापेक्ष नित्यत्व है ॥१७-१८॥

सर्गं वक्त्यस्य तस्माद्वा एतस्मादित्यपि श्रुतिः ।
सकाशाद्ब्रह्मणस्तस्मादनित्यत्वे न संशयः ॥१९॥

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) (इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुति भी ब्रह्मके सकाशसे इस जगत्की उत्पत्ति कहती है, इस कारण जगत्के अनित्यत्वमें सन्देह नहीं है ॥१९॥

सर्वस्यानित्यत्वे सावयवत्वेन सर्वतःसिद्धे ।
वैकुण्ठादिषु नित्यत्वमतिर्भ्रम एव मूढबुद्धीनाम् ॥२०॥

सावयव होनेसे सारा जगत् अनित्य है, यह सब प्रकारसे सिद्ध होनेपर जो वैकुण्ठ आदि लोकोंमें नित्यत्व बुद्धि है, वह मूढमति पुरुषोंका केवल भ्रम ही है ॥२०॥

अनित्यत्वं च नित्यत्वमेवं यच्छ्रुतियुक्तिभिः ।
विवेचनं नित्यानित्यविवेक इति कथ्यते ॥२१॥

श्रुति और तदनुकूल तर्ककी सहायतासे नित्यत्व और अनित्यत्व विषयक जो विचार वह 'नित्यानित्यवस्तु विवेक' है, ऐसा कहा जाता है ॥२१॥

ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात् ।
नैःस्पृह्यं तुच्छबुद्ध्या यत्तद्वैराग्यमितीर्यते ॥२२॥

इस लोक तथा परलोकके भोगोंमें अनित्यत्व निश्चय होनेके कारण ये भोग तुच्छ हैं ऐसी बुद्धिसे उन भोगोंमें जो निस्पृहता, वही वैराग्य कहा जाता है ॥२२॥

नित्यानित्यपदार्थविवेकात्पुरुषस्य जायते सद्यः ।
स्रक्चन्दनवनितादौ सर्वत्रानित्यवस्तुनि विरक्तिः ॥२३॥

नित्य और अनित्य पदार्थके स्वरूप विषयक विवेक हो जानेसे पुरुषको तुरन्त पुष्पमाला,

चन्दन, स्त्री आदि सब अनित्य वस्तुओंमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ॥२३॥

काकस्य विष्ठावदसह्यबुद्धिर्भोग्येषु सा तीव्रविरक्तिरिष्यते ।
विरक्तितीव्रत्वनिदानमाहुर्भोग्येषु दोषेक्षणमेव सन्तः ॥२४॥

भोग्य पदार्थोंमें काकविष्ठाके समान जो असह्यबुद्धि-अतिघृणा वह तीव्रवैराग्य कहा जाता है । महात्मा लोग कहते हैं कि भोग्यपदार्थोंमें दोषदर्शन ही तीव्रवैराग्यका हेतु है **'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'** (गी० १३।९) में भी ऐसा कहा गया है ॥२४॥

प्रदृश्यते वस्तुनि यत्र दोषो न तत्र पुंसोऽस्ति पुनः प्रवृत्तिः ।
अन्तर्महारोगवतीं विजानन्को नाम वेश्यामपि रूपिणीं व्रजेत् ॥२५॥

जिस वस्तुमें दोष दिखाई देता है उसमें पुरुषकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती, जैसे वेश्या रूपवती हो, परन्तु उसके शरीरके भीतर महारोग है, ऐसा जानता हुआ कौन पुरुष उसके साथ रमण करेगा ? ॥२५॥

अत्रापि चान्यत्र च विद्यमानपदार्थसंमर्शनमेव कार्यम् ।
यथाप्रकारार्थगुणाभिमर्शनं संदर्शयत्येव तदीयदोषम् ॥२६॥

इस लोक तथा परलोकमें विद्यमान पदार्थोंका विचार करना चाहिए कि ये अनित्य हैं या नहीं ? इनका परिणाम क्या है ? इत्यादि यथावत्‌रूपसे पदार्थोंके गुणों-धर्मोंका विचार उसीके दोषोंको ही दिखलाता है ॥२६॥

कुक्षौ स्वमातुर्मलमूत्रमध्ये स्थितिं तदा विट्क्रिमिदंशनं च ।
तदीयकौक्षेयकवह्निदाहं विचार्य को वा विरतिं न याति ॥२७॥

गर्भवासके समय अपनी माताकी कुक्षिमें मल-मूत्रके बीच स्थितिका और उस समय विष्ठाके कीड़ोंके काटनेका तथा माताके कुक्षिस्थ अग्निके दाहका विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥२७॥

स्वकीयविण्मूत्रनिमज्जनं यच्चोत्तानगत्या शयनं तदा यत् ।
बालग्रहाद्याहतिभाक्च शैशवं विचार्य को वा विरतिं न याति ॥२८॥

गर्भवासमें पैर ऊपर और सिर नीचे कर सोना, जन्मानन्तर अपने ही मल, मूत्रमें निमग्न हो पड़े रहना, बालकोंको पीड़ा देनेवाले अनेक ग्रहोंके उपद्रवसे युक्त बालकपन, यह सब विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥२८॥

स्वीयैः परैस्ताडनमज्ञभावमत्यन्तचापल्यमसत्क्रियां च ।
कुमारभावे प्रतिषिद्धवृत्तिं विचार्य को वा विरतिं न याति ॥२९॥

कुमार अवस्था आनेपर अपने घरके और बाहरके लोगों द्वारा ताड़न (पिटाई) अज्ञानीपन, अत्यन्त चपलता, अनुचित क्रिया और निषिद्ध क्रिया करना इन सब अनिष्ट बातोंका विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥२९॥

मदोद्धतिं मान्यतिरस्कृतिं च कामातुरत्वं समयातिलङ्घनम् ।
तां तां युवत्यादितदुष्टचेष्टां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३०॥

युवावस्थामें मदकी उद्धता, माननीय पुरुषोंका तिरस्कार करना, कामसे आतुर होना, जाति कुल आदिका मर्यादाका उल्लङ्घन करना, युवतियोंके समागममें उत्पन्न हुई खोटी चेष्टाएँ, इनको विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३०॥

विरूपतां सर्वजनादवज्ञां सर्वत्र दैन्यं निजबुद्धिहैन्यम् ।
वृद्धत्वसंभावितदुर्दशां तां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३१॥

बेढब अवस्थाका सब जनोंसे तिरस्कार, सर्वत्र दीनता, अपनी बुद्धिकी हीनता, वृद्धावस्थासे संभावित इस दुर्दशाका विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ?

पित्तज्वरार्शः क्षयगुल्मशूलश्लेष्मादिरोगोदिततीव्रदुःखम् ।
दुर्गन्धमस्वास्थ्यमनूनचिन्तां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३२॥

बुढ़ापेमें पित्तज्वर, बवासीर, क्षयरोग, वायुगोला, शूल, कफ आदि रोगोंसे उत्पन्न तीव्र दुःख, शरीर दुर्गन्ध, अस्वस्थता और बड़ी भारी चिन्ता इन सबका विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३२॥

यमावलोकोदितभीतिकम्पमर्मव्यथोच्छ्वासगतीश्च वेदनाम् ।
प्राणप्रयाणे परिदृश्यमानां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३३॥

मृत्युके समय यमके दर्शनसे भय, कम्पन, मर्मस्थानोंमें पीड़ा और ऊर्ध्वश्वासगति, प्राणप्रयाणके समय चारों ओरसे वेदना देखनेमें आती है, उसका विचारकर कौन-सा पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३३॥

अङ्गारनद्यां तपने च कुंभीपाकेऽपि वीच्यामसिपत्रकानने ।
दूतैर्यमस्य क्रियमाणबाधां विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३४॥

मरणानन्तर अङ्गारोंकी नदी 'वैतरणी' सूर्यसे तप्त रेती अथवा अग्नि, कुम्भीपाक-नरक, शरीरके टुकड़े करनेवाली तरङ्गें और तलवारकी सी धारके पत्तोंवाले वृक्षोंके वन, ऐसे-ऐसे प्रसिद्ध नरकोंमें पापियोंको यमके दूत जो क्लेश देते हैं, उनका विचारकर कौन पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३४॥

पुण्यक्षये पुण्यकृतो नभःस्थैर्निपात्यमानाञ्छिथिलीकृताङ्गान् ।
नक्षत्ररूपेण दिवश्च्युतांस्तान्विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३५॥

स्वर्गफलप्रद पुण्य कर्मके क्षीण होनेपर स्वर्गके अधिकारी देवगण उसे बलात् स्वर्गसे नीचे ढकेल देते हैं, शिथिल किये गये अङ्गोंवाला पुरुष नक्षत्ररूपसे नीचे भूतलपर गिरता है। **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** (गी० ९।२१) पुण्यकर्म करनेवालोंकी इस दशाका विचार कर कौन पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३५॥

वाय्वर्कवह्नीन्द्रमुखान्सुरेन्द्रानीशोग्रभीत्या ग्रथितान्तरङ्गान् ।
विपक्षलोकैः परिदूयमानान्विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३६॥

जिनके हृदय परमेश्वरके महान् भयसे गुँथे हुए हैं, शत्रुपक्षके लोगोंसे चारों ओर दुःख पा रहे हैं, ऐसे वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र आदि प्रमुख देवोंका विचारकर कौन पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? **'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥** (क० २।३।३) **भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥'** (तै० २।८) इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं ॥३६॥

श्रुत्या निरुक्तं सुखतारतम्यं ब्रह्मान्तमारभ्य महीमहेशम् ।
औपाधिकं तत्तु न वास्तवं चेदालोच्य को वा विरतिं न याति ॥३७॥

ब्रह्मासे लेकर भूमण्डल-पृथिवीके महाराजा-सम्राट् तक जो सुखका तारतम्य [**'स एको मानुष आनन्दः'** (वह एक मानुषस्तरका आनन्द है) **'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः'** (तै० २।८,१-४) (प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्माका एक आनन्द है)] इसप्रकार श्रुतिमें कहा गया है, वह सब औपाधिक है अर्थात् अज्ञान कल्पित शरीर आदि उपाधिसे है वास्तविक नहीं—आत्माका धर्म नहीं है, ऐसा विचारकर कौन पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३७॥

सालोक्यसामीप्यसरूपतादिभेदस्तु सत्कर्मविशेषसिद्धः ।
न कर्मसिद्धस्य तु नित्यतेति विचार्य को वा विरतिं न याति ॥३८॥

सालोक्य-इष्टदेवके लोकमें निवास, सामीप्य-इष्टदेवके समीप वास, सारूप्य-इष्टदेवका-सा स्वरुप आदि भेद तो सत्कर्म विशेष (उपासना) से सिद्ध है, कर्मसे सिद्ध-वस्तु तो नित्य नहीं होती, ऐसा विचारकर कौन पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३८॥

यत्रास्ति लोके गतितारतम्यमुच्चावचत्वान्वितमत्र तत्कृतम् ।
यथेह तद्वत्खलु दुःखमस्तीत्यालोच्य को वा विरतिं न याति ॥३९॥

संसारमें जो गतिका तारतम्य है, वह सब न्यून-अधिकभाव-ऊंच-नीचभावसे युक्त है और कर्मका फल है, जैसे इस लोकमें कर्मानुसार गतिके तारतम्यसे परिणाममें दुःख होता है, वैसे स्वर्गमें भी है, **'अतोऽन्यदार्तम्'** यह श्रुतिवचन है, ऐसा विचारकर कौन पुरुष वैराग्यको प्राप्त नहीं होगा ? ॥३९॥

को नाम लोके पुरुषो विवेकी विनश्वरे तुच्छसुखे गृहादौ।
कुर्याद्रतिं नित्यमवेक्षमाणो वृथैव मोहान्म्रियमाणजन्तून् ॥४०॥

इस लोकमें कौन-सा विवेकी पुरुष नश्वर तुच्छ सुखमय गृह आदिमें वृथा ही मोहसे मरते हुए प्राणियोंको सदा देखता हुआ भी रति करेगा ? ॥४०॥

सुखं किमस्त्यत्र विचार्यमाणे गृहेऽपि वा योषिति वा पदार्थे ।
मायातमोऽन्धीकृतचक्षुषो ये त एव मुह्यन्ति विवेकशून्याः ॥४१॥

इस संसारमें विचार करनेपर कि गृह, स्त्री अथवा अन्य पदार्थमें क्या सुख है ? जो अविद्यारूप अन्धकारमें दृष्टिहीन हैं, वे ही विवेक शून्य पुरुष उनमें मोहित होते हैं ॥४१॥

अविचारितरमणीयं सर्वमुदुम्बरफलोपमं भोग्यम्।
अज्ञानामुपभोग्यं न तु तज्ज्ञानां योषिति वा पदार्थे ॥४२॥

उदम्बर फलके समान सब भोग्यपदार्थ विचार न करनेपर ही रमणीय प्रतीत होते हैं। जो इन पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते उनके लिए ही ये उपभोग योग्य हैं, परन्तु जो इन पदार्थोंकी वस्तुस्थिति जानते हैं, उनके लिए ये स्त्री अथवा अन्य पदार्थ भोग्य नहीं होंगे ॥४२॥

गतेऽपि तोये सुषिरं कुलीरो हातुं ह्यशक्तो म्रियते विमोहात्।
यथा तथा गेहसुखानुषक्तो विनाशमायाति नरो भ्रमेण ॥४३॥

किसी गढ्ढेमें जलके सूख जानेपर भी गढ्ढेको त्याग करनेमें असमर्थ कर्कट जैसें मोहवश ही मर जाता है, वैसे गृह आदि सुखमें आसक्त मनुष्य भ्रमसे विनाशको प्राप्त होता है ॥४३॥

कोशक्रिमिस्तन्तुभिरात्मदेहमावेष्ट्य चावेष्ट्य च गुप्तिमिच्छन्।
स्वयं विनिर्गन्तुमशक्त एव संस्ततस्तदन्ते म्रियते च लग्नः ॥४४॥
यथा तथा पुत्रकलत्रमित्रस्नेहानुबन्धैर्ग्रथितो गृहस्थः।
कदापि वा तान्परिमुच्य गेहाद्गन्तुं न शक्तो म्रियते मुधैव ॥४५॥

जैसे रेशमका कीट अपने शरीरको अपनी लाररूपी तन्तुओं से लपेट लपेटकर रक्षाकी इच्छा करता है, परन्तु अपने सूत से बनाये हुए जालमें से निकलने में असमर्थ होता हुआ अनन्तर उसके भीतर ही संलग्न हुआ मर जाता है। वैसे ही गृहस्थ पुत्र, स्त्री, मित्र आदिके स्नेहरूपी बन्धनोंसे बँधा हुआ कदापि उसका परित्यागकर घरसे बाहर जानेमें अर्थात् विरक्त होकर संन्यासग्रहण करनेमें असमर्थ होकर अन्तमें अपने कर्तव्यको साधे विना व्यर्थ ही मर जाता है ॥४४-४५॥

कारागृहस्यास्य च को विशेषः प्रदृश्यते साधु विचार्यमाणे।
मुक्तेः प्रतीपत्वमिहापि पुंसः कान्तासुखाभ्युत्थितमोहपाशैः ॥४६॥

अच्छी तरहसे विचार करने पर इस घर और कारागार (जेल) में क्या भेद दिखाई देता है अर्थात् कुछ भी नहीं। जैसे कारागारसे मुक्ति पानेमें प्रतिकूल साधन होते हैं, वैसे ही यहाँ भी स्त्रीके समागमसे उत्पन्न सुखरूपी मोह पाशोंसे पुरुषकी मुक्तिमें रुकावट है ॥४६॥

गृहस्पृहा पादनिबद्धशृङ्खला कान्तासुताशा पटुकण्ठपाशः।
शीर्षे पतद्भूयशनिर्हि साक्षात्प्राणान्तहेतुः प्रबला धनाशा ॥४७॥

गृह निर्माण आदिकी स्पृहा पैरोंमें पहनाई गई बेड़ियाँ हैं। स्त्री और पुत्रकी आशा ही अतिदृढ़ कण्ठमें फाँसी है। धन पैदा करनेकी प्रबल अभिलाषा ही माथे पर गिरनेको उद्यत बहुतसे वज्रोंके समान साक्षात् प्राणके नाशका हेतु है। इसलिए घर और कारागारमें कोई भेद नहीं है ॥४७॥

आशापाशशतेन पाशितपदो नोत्थातुमेव क्षमः
कामक्रोधमदादिभिः प्रतिभटैः संरक्ष्यमाणोऽनिशम् ।
संमोहावरणेन गोपनवतः संसारकारागृहा-
न्निर्गन्तुं त्रिविधैषणापरवशः कः शक्नुयाद्रागिषु ॥४८॥

विषयासक्त पुरुषोंमेंसे आशारूप सैकड़ों पाशोंसे बंधा हुआ चरणवाला पुरुष उठनेके लिए भी समर्थ नहीं है, काम, क्रोध, मदादि योद्धाओंसे रातदिन संरक्षित किया हुआ है, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, इन तीन प्रकारकी एषणाओंके वशीभूत सम्यक् मोहरूप आवरणसे सुरक्षित संसाररूपी कारागारसे निकलनेमें कौन पुरुष समर्थ होगा ? ॥४८॥

कामान्धकारेण निरुद्धदृष्टिर्मुह्यत्यसत्यप्यबलास्वरूपे ।
न ह्यन्धदृष्टेरसतः सतो वा सुखत्वदुःखत्वविचारणास्ति ॥४९॥

कामरूप अन्धकारसे निरुद्ध दृष्टिवाला पुरुष असत् स्त्रीके रूपमें मोहित हो जाता है। जैसे दृष्टिहीन अन्ध पुरुषको अविद्यमान वस्तुके अथवा विद्यमान वस्तुके सुखत्व दुःखत्वकी विवेकशक्ति नहीं होती अर्थात् जैसे अन्धव्यक्तिको सत् और असत् वस्तुमें सुखद कौन और दुःखद कौन है, ऐसी विचारशक्ति नहीं होती, ठीक वैसी दशा कामान्ध पुरुषकी है ॥४९॥

श्लेष्मोद्गारि मुखं स्रवन्मलवती नासाश्रुमल्लोचनं
स्वेदस्रावि मलाभिपूर्णमभितो दुर्गन्धदुष्टं वपुः ।
अन्यद्वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं क्वचिन्नार्हति
स्त्रीरूपं कथमीदृशं सुमनसां पात्रीभवेन्नेत्रयोः ॥५०॥

मुख कफको निकालनेवाला, नासिका टपकते मलवाली, नेत्र आँसुओंसे युक्त, शरीर बहते हुए पसीनेसे युक्त, मल-मूत्रसे पूर्ण, सब ओरसे दुर्गन्धसे दूषित है अन्य दोष कहनेको असमर्थ है। किसी दोषके विषय में मनसे भी विचार करनेको उचित नहीं है। ऐसा स्त्रीका स्वरूप विचारयुक्त मनवालेके नेत्रोंका कैसे पात्र हो सकता है ? ॥५०॥

दूरादवेक्ष्याग्निशिखां पतङ्गो रम्यत्वबुद्ध्या विनिपत्य नश्यति ।
यथा तथा नष्टदृगेष सूक्ष्मं कथं निरीक्षेत विमुक्तिमार्गम् ॥५१॥

जैसे पतङ्ग दूरसे अग्निशिखाको रमणीय बुद्धिसे देख उसमें पड़कर नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्त्री रूपमें नष्ट विचारदृष्टिवाला पुरुष सूक्ष्म मुक्तिमार्गको कैसे देख सकेगा ? ॥५१॥

कामेन कान्तां परिगृह्य तद्वज्जनोऽप्ययं नश्यति नष्टदृष्टिः ।
मांसास्थिमज्जामलमूत्रपात्रं स्त्रियं स्वयं रम्यतयैव पश्यति ॥५२॥

वैसे ही यह मनुष्य भी बुद्धिहीन होता हुआ कामसे स्त्रीको स्वीकारकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही मांस, हड्डी, मज्जा, मलमूत्रके पात्र स्त्रीको रमणीय है, ऐसा देखता है ॥५२॥

काम एव यमः साक्षात्कान्ता वैतरणी नदी ।
विवेकिनां मुमुक्षूणां निलयस्तु यमालयः ॥५३॥

विवेकी मुमुक्षुओंके लिए तो काम ही साक्षात् यम है कान्ता वैतरणी नदी है, और घर तो यमराज का घर है ॥५३॥

यमालये वापि गृहेऽपि नो नृणां तापत्रयक्लेशनिवृत्तिरस्ति ।
किञ्चित्समालोक्य तु तद्विरामं सुखात्मना पश्यति मूढलोकः ॥५४॥

जीवनकालमें अपने घरमें अथवा मरकर यमराजके घरमें भी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों तापोंके क्लेशोंकी निवृत्ति नहीं होती है। किन्तु मूढ व्यक्ति कुछ कि उसके विरामको देख सुखरूपसे देखता (सुखद समझता) है ॥५४॥

यमस्य कामस्य च तारतम्यं विचार्यमाणे महदस्ति लोके ।
हितं करोत्यस्य यमोऽप्रियः सन्कामस्त्वनर्थं कुरुते प्रियः सन् ॥५५॥

संसारमें विचारदृष्टिसे देखनेपर यह निश्चय होता है कि यम और काममें महान् तारतम्य (अन्तर) है। यम अप्रिय होता हुआ भी इस प्राणीका हित करता है जबकि काम प्रिय होता हुआ भी इसका अनर्थ करता है ॥५५॥

यमोऽसतामेव करोत्यनर्थं सतां तु सौख्यं कुरुते हितः सन् ।
कामः सतामेव गतिं निरुन्धन्करोत्यनर्थं ह्यसतां नु का कथा ॥५६॥

यम असज्जनोंका ही अनिष्ट करता है, किन्तु सज्जनोंका तो हितकारी होता हुआ सुख देता है। परन्तु काम तो साधु पुरुषोंकी ही सद्गतिको रोकता हुआ उनका अशुभ करता है, दुर्जनोंके विषयमें तो फिर कहना ही क्या है ? ॥५६॥

विश्वस्य वृद्धिं स्वयमेव काङ्क्षन्प्रवर्तकं कामिजनं ससर्ज ।
तेनैव लोकः परिमुह्यमानः प्रवर्धते चन्द्रमसेव चाब्धिः ॥५७॥

कामने स्वयं ही विश्वकी वृद्धि चाहते हुए प्रवृत्ति के हेतुभूत कामीजनोंकी सृष्टिकी, उसीसे पुरुष अतिमोहको प्राप्त होता हुआ चन्द्रमासे समुद्रके समान बढ़ता है ॥५७॥

कामो नाम महाञ्जगद्भ्रमयिता स्थित्वान्तरङ्गे स्वयं
　　स्त्रीपुंसावितरेतराङ्गकगुणैर्हासैश्च भावैः स्फुटम् ।
अन्योन्यं परिमोह्य नैजतमसा प्रेमानुबन्धेन तौ
　　बद्ध्वा भ्रामयति प्रपञ्चरचनां संवर्धयन्ब्रह्महा ॥५८॥

यह कामदेव महान् ब्रह्महत्यारा है यह स्वयं प्राणीके अन्तःकरणमें रहकर जगत्को भ्रमाता है। परस्पर शरीरमें स्थित गुणोंके स्फुट हास्यों और भावोंसे मानसिक विकास द्वारा इन स्त्री और पुरुषको परस्परमें पूर्णरूपसे मोहितकर अपने तमोगुण द्वारा प्रेमरूप पाशसे बांधकर जगत् रचनाको बढ़ाता हुआ यह ब्रह्महत्यारा भ्रमाता है अर्थात् परब्रह्मके स्वरूपको आवृत्तकर सबको अज्ञानान्धकारमें डालकर भ्रमाता है ॥५८॥

अतोऽन्तरङ्गस्थितकामवेगाद्भोग्ये प्रवृत्तिः स्वत एव सिद्धा ।
सर्वस्य जन्तोर्ध्रुवमन्यथा चेदबोधितार्थेषु कथं प्रवृत्तिः ॥५९॥

अतः अन्तःकरणमें स्थित कामदेवके वेगसे सब प्राणियोंकी भोग्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति स्वतः ही सिद्ध है, यदि ऐसा न हो तो अज्ञात पदार्थोंमें उनकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

तेनैव सर्वजन्तूनां कामना बलवत्तरा ।
जीर्यत्यपि च देहेऽस्मिन्कामना नैव जीर्यति ॥६०॥

उसी कामदेवसे सब प्राणियोंकी भोगकामना अत्यन्त बलवती होती है और इस शरीरके जीर्ण होनेपर भी भोगकामना जीर्ण नहीं होती। **"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः"** (भर्तृहरि) ॥६०॥

अवेक्ष्य विषये दोषं बुद्धियुक्तो विचक्षणः ।
कामपाशेन यो मुक्तः स मुक्तेः पथि गोचरः ॥६१॥

जो बुद्धिमान् और चतुरपुरुष इसप्रकार विषयभोगमें दोष देखकर कामपाशसे मुक्त हैं **"जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्** (गी० १३-९) वह मुक्तिके मार्गमें आरूढ़ है ।६१।

कामस्य विजयोपायं सूक्ष्मं वक्ष्याम्यहं सताम् ।
सङ्कल्पस्य परित्याग उपायः सुलभो मतः ॥६२॥

कामदेवके जीतनेका सूक्ष्म उपाय सज्जनोंके लिए मैं कहूँगा, संकल्पका परित्याग ही सुलभ उपाय माना गया है ॥६२॥

श्रुते दृष्टेऽपि वा भोग्ये यस्मिन्कस्मिश्च वस्तुनि ।
समीचीनत्वधीत्यागात्कामो नोदेति कर्हिचित् ॥६३॥

श्रुत अथवा दृष्ट जिस किसी भोग्य वस्तुमें 'यह समीचीन है' इस प्रकारकी बुद्धिके त्यागसे पुनः कभी कामका उदय नहीं होता है ॥६३॥

कामस्य बीजं संकल्पः संकल्पादेव जायते ।
बीजे नष्टेऽङ्कुर इव तस्मिन्नष्टे विनश्यति ॥६४॥

कामका बीज संकल्प है, संकल्पसे ही काम उत्पन्न होता है। जैसे बीजके नष्ट होने पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे संकल्पके नष्ट होनेसे काम भी नष्ट हो जाता है ॥६४॥

न कोऽपि सम्यक्त्वधिया विनैव भोग्यं नरः कामयितुं समर्थः ।
यतस्ततः कामजयेच्छुरेतां सम्यक्त्वबुद्धिं विषये निहन्यात् ॥६५॥

'यह वस्तु अच्छी है' इस प्रकारकी बुद्धिके हुए विना ही कोई भी मनुष्य भोग्य पदार्थकी कामना करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् कामना नहीं कर सकता, क्योंकि इसकारण कामजयेच्छुको विषयमें 'यह रमणीय है' इस बुद्धिका नाशकर देना चाहिए ॥६५॥

भोग्ये नरः कामजयेच्छुरेतां सुखत्वबुद्धिं विषये निहन्यात् ।
यावत्सुखत्वभ्रमधीः पदार्थे तावन्न जेतुं प्रभवेद्धि कामम् ॥६६॥

कामको जीतनेकी इच्छावाला मनुष्य भोग्यविषयमें **'मदिष्टसाधनम्'** सुखत्व बुद्धिका नाश कर दे, जबतक पदार्थमें सुखत्व भ्रमबुद्धि है तबतक पुरुष कामको जीतनेमें समर्थ ही नहीं हो सकता ।।६६।।

संकल्पानुदये हेतुर्यथाभूतार्थदर्शनम् ।
अनर्थचिन्तनं चाभ्यां नावकाशोऽस्य विद्यते ।।६७।।

जिस वस्तुका जैसा स्वरूप है उसे वैसा ही देखना (यह यथाभूतार्थदर्शन है) और उन पदार्थोंके भोगसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थ-दुःखका चिन्तन संकल्पके अनुदयमें हेतु है, इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंके विद्यमान होनेसे कामको उदय होनेका अवकाश ही नहीं मिलता ।।६७।।

रत्ने यदि शिलाबुद्धिर्जायते वा भयं ततः ।
समीचीनत्वधीर्नैति नोपादेयत्वधीरपि ।।६८।।

यदि रत्नमें किसीको पत्थरबुद्धि अथवा दुःखका हेतु समझकर भय उत्पन्न हो तो उसमें 'यह रत्न सुन्दर है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती और 'यह ग्रहण करने योग्य है' ऐसी बुद्धि भी उत्पन्न नहीं होती ।।६८।।

यथार्थदर्शनं वस्तुन्यनर्थस्यापि चिन्तनम् ।
संकल्पस्यापि कामस्य तद्वधोपाय इष्यते ।।६९।।

भोग्यवस्तुके वास्तविकरूपका ज्ञान और उससे उत्पन्न अनर्थका चिन्तन ये दोनों संकल्प और कामके नाश करनेके उपाय माने जाते हैं ।।६९।।

धनं भयनिबन्धनं सततदुःखसंवर्धनं
प्रचण्डतरकर्दनं स्फुटितबन्धुसंवर्धनम् ।
विशिष्टगुणबाधनं कृपणधीसमाराधनं
न मुक्तिगतिसाधनं भवति नापि हृच्छोधनम् ।।७०।।

यह धन भयका कारण है । निरन्तर दुःखोंको बढ़ानेवाला है, महाप्रचण्ड विनाश करनेवाला है, बन्धु बान्धवोंमें स्पष्ट भेद बढ़ानेवाला है, विशिष्ट गुणोंका बाधक है, कृपण बुद्धिवाले पुरुषोंको प्यारा लगता है । मुक्तिमार्गका साधन नहीं है और हृदयको शुद्ध करनेवाला भी नहीं है ।।७०।।

राज्ञो भयं चोरभयं प्रमादाद्भयं तथा ज्ञातिभयं च वस्तुतः ।
धनं भयग्रस्तमनर्थमूलं यतः सतां नैव सुखाय कल्पते ।।७१।।

राजासे भय, चोरसे भय, असावधानीसे भय तथा ज्ञातिवालोंसे भय है, वस्तुतः धन भयसे ग्रस्त और अनर्थका मूल है । इस हेतुसे सज्जनोंको सुखके लिए समर्थ नहीं है ।

अर्जने रक्षणे दाने व्यये वापि च वस्तुतः ।
दुःखमेव सदा नृणां न धनं सुखसाधनम् ।।७२।।

धन इकट्ठा-उत्पन्न करनेमें, रक्षा करनेमें, दान करनेमें और व्यय करनेमें दुःख देता है, वस्तुतः धन मनुष्योंको सदा दुःख ही देता है, अतः धन सुखका साधन नहीं है ॥७२॥

सतामपि पदार्थस्य लाभाल्लोभः प्रवर्धते ।
विवेको लुप्यते लोभात्तस्मिल्लुप्ते विनश्यति ॥७३॥

सत्पुरुषोंको भी पदार्थके लाभसे लोभ बढ़ता है । लोभसे विवेक (कर्तव्याकर्तव्य बुद्धि) लुप्त हो जाता है, विवेकके लुप्त हो जानेपर वह मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाता है ॥७३॥

दहत्यलाभे निःस्वत्वं लाभे लोभो दहत्यमुम् ।
तस्मात्सन्तापकं वित्तं कस्य सौख्यं प्रयच्छति ॥७४॥

धनके न मिलनेपर दरिद्र मनुष्यको निर्धनता जलाती है, मिलनेपर उसके हृदयको लोभ संतप्त करता है । इसप्रकार सब दशामें हृदयको दुःख देनेवाला धन जगत्में भला किसको सुख देता है ? अर्थात् किसको भी नहीं ॥७४॥

भोगेन मत्तता जन्तोर्दानेन पुनरुद्भवः ।
वृथैवोभयथा वित्तं नास्त्येव गतिरन्यथा ॥७५॥

धनके भोगसे मनुष्यको उन्मत्तता होती है और धनके दानसे पुण्यके फल सुख भोगनेके लिए पुनर्जन्म धारण करना पड़ता है । दोनों प्रकारसे धन वृथा है, दोनों प्रकारको छोड़कर धनकी और कोई गति नहीं है ॥७५॥

धनेन मदवृद्धिः स्यान्मदेन स्मृतिनाशनम् ।
स्मृतिनाशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥७६॥

धन होनेसे मनुष्यमें अभिमानकी वृद्धि होती है, अभिमानसे भला बुरा विचार करनेकी स्मृति नष्ट हो जाती है । स्मृतिके नाशसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे मनुष्य स्वयं ही नष्ट हो जाता है **'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'** (गीता० २।६३) यह गीतावचन भी है ॥७६॥

सुखयति धनमेवेत्यन्तराशापिशाच्या
दृढतरमुपगूढो मूढलोको जड़ात्मा ।
निवसति तदुपान्ते सन्ततं प्रेक्षमाणो
व्रजति तदपि पश्चात्प्राणमेतस्य हृत्वा ॥७७॥

जड़ात्मा मूढ़ जनको 'धन सुख देता है' ऐसी आन्तरआशारूपी पिशाचीने अत्यन्त दृढतासे पकड़ रखा है और निरन्तर धनकी ओर देखता हुआ धनके पास ही बैठा रहता है । परन्तु पश्चात् धन ही इसके प्राण हरकर स्वयं भी चला जाता है ॥७७॥

सम्पन्नोऽन्धवदेव किञ्चिदपरं नो वीक्षते चक्षुषा
सद्भिर्वर्जितमार्गं एव चरति प्रोत्साहितो बालिशैः ।

तस्मिन्नेव मुहुः स्खलन्प्रतिपदं गत्वान्धकूपे पत-
त्यस्यान्धत्वनिवर्तकौषधमिदं दारिद्र्यमेवाञ्जनम् ॥७८॥

धनवान् पुरुष अन्धेके समान ही धनके अतिरिक्त और कुछ भी नेत्रसे नहीं देखता है अर्थात् देखता भी नहीं देखता सत्पुरुषोंसे वर्जित मार्गमें ही मूर्खोंद्वारा उत्साहित किया हुआ चलता है। उसी मार्गमें ही प्रत्येक पद पर वार वार ठोकरें खाता हुआ जाकर अन्धकूपके समान महान् विपत्तिमें पड़ता है। उसके अन्धपनका निवर्तक यह दारिद्र्य अञ्जन ही औषध है ॥७८॥

लोभः क्रोधश्च दम्भश्च मदो मत्सर एव च।
वर्धंते वित्तसंप्राप्त्या कथं तच्चित्तशोधनम् ॥७९॥

धनकी प्राप्तिसे लोभ, क्रोध, दंभ, मद और मत्सर ही बढ़ते हैं। उस धनसे चित्त की शुद्धि कैसे हो सकती है? ॥७९॥

अलाभाद्द्विगुणं दुःखं वित्तस्य व्ययसम्भवे।
ततोऽपि त्रिगुणं दुःखं दुर्व्यये विदुषामपि ॥८०॥

धनके लाभ न होनेके दुःखसे भी धनके व्यय संभव होनेपर दुगुना दुःख होता है, परन्तु धनके अनुचित व्यय होनेपर विद्वानोंको भी उससे भी अधिक तिगुना दुःख होता है ॥८०॥

नित्याहितेन वित्तेन भयचिन्तानपायिना।
चित्तस्वास्थ्यं कुतो जन्तोर्गृहस्थेनाहिना यथा ॥८१॥

जैसे गृहस्थित सर्पसे मनुष्यका चित्त स्वस्थ नहीं रहता किन्तु व्याकुलता और चिन्ता-ग्रस्त रहता है। वैसे भय और चिन्तासे युक्त नित्य अहितकर धनसे मनुष्यका चित्त स्वस्थ कैसे हो सकता है? ॥८१॥

कान्तारे विजने वने जनपदे सेतौ निरीतो च वा।
चोरैर्वापि तथेतरैर्नरवरैर्युक्तो वियुक्तोऽपि वा ॥
निःस्वः स्वस्थतया सुखेन वसति ह्याद्रीयमाणो जनैः
क्लिश्नात्येव धनी सदाकुलमतिर्भीतश्च पुत्रादपि ॥८२॥

निर्धन पुरुष निर्जन वनमें वा मनुष्योंसे भरे नगरमें, किसी देशमें किसी नदीके पुलपर अथवा दुर्भिक्ष आदि सब प्रकार के भयसे रहित स्थानमें, चोर तथा अन्य दुष्ट पुरुष अथवा राजाओंके साथ रहे अथवा अलग अकेला रहे तो भी स्वस्थ और सुखपूर्वक रहता है। किन्तु लोगोंद्वारा आद्रीयमाण होता धनीपुरुष सदा व्याकुल चित्त, पुत्रसे भी भयभीत होता हुआ क्लेश ही पाता है 'पुत्रादपि धनभाजां भीतिः' ॥८२॥

तस्मादनर्थस्य निदानमर्थः पुमर्थसिद्धिर्न भवत्यनेन।
ततो वनान्ते निवसन्ति सन्तः संन्यस्य सर्वं प्रतिकूलमर्थम् ॥८३॥

इस कारण धन अनर्थका मूलकारण है (**'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्'**) इससे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए सन्तलोग प्रतिकूल अर्थका सब प्रकारसे परित्याग कर किसी वनमें निवास करते हैं ॥८३॥

श्रद्धाभक्तिमतीं सतीं गुणवतीं पुत्राञ्श्रुतान्सम्मता-
नक्षय्यं वसुधानुभोगविभवैः श्रीसुन्दरं मन्दिरम् ।
सर्वं नश्वरमित्यवेत्य कवयः श्रुत्युक्तिभिर्युक्तिभिः
संन्यस्यन्त्यपरे तु तत्सुखमिति भ्राम्यन्ति दुःखार्णवे ॥८४॥

श्रद्धा और भक्तिसे युक्त गुणवाली स्त्री, अनुकूल विद्वान् पुत्र, अक्षय्य धन, पुण्यवश पृथिवीके नाना प्रकारके भोगविलासोंकी सामग्रीसे भरा परम सुन्दर घर सब नश्वर हैं **'आगमापायिनोऽनित्यांस्तान्तितिक्षस्व भारत'** (गी. २. १४) तथा **'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते। एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते'** । (छां. ८।१।६) (जैसे यहाँ कर्मसे सम्पादित यह लोक नष्ट हो जाता है वैसे ही वहाँ पुण्यसे सम्पादित स्वर्ग आदि फल भी नष्ट हो जाता है) **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** (गी. ९।२१) वेदस्मृति वचनों और **'यज्जन्यं तदनित्यम्'** युक्तियोंद्वारा जानकर विचारवान् पुरुष संन्यास ग्रहण करते हैं। अन्य अविचारवान् पुरुष तो वह सुखरूप है, ऐसा जानकर दुःखसागरमें भ्रमते रहते हैं ॥८४॥

सुखमिति मलराशौ ये रमन्तेऽत्र गेहे कृमय इव कलत्रक्षेत्रपुत्रानुषक्त्या ।
सुरपद इव तेषां नैव मोक्षप्रसंगस्त्वपि तु निरयगर्भवासदुःखप्रवाहः ॥८५॥

मलकी राशिरूप इस घरमें 'सुख है' ऐसा मानकर जो पुरुष स्त्री, क्षेत्र और पुत्रोंमें आसक्तिसे कृमियोंके समान रमण करते हैं। उनको स्वर्गस्थ देवोंके समान मोक्ष प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है, किन्तु वार-वार नरक और गर्भवाससे दुःखका प्रवाह प्राप्त होता है ॥८५॥

येषामाशा निराशा स्याद्दारापत्यधनादिषु ।
तेषां सिध्यति नान्येषां मोक्षाशाभिमुखी गतिः ॥८६॥

जिनकी स्त्री, संतान, धन आदिमें आशा निराशारूप हो गई है, उनकी मोक्षकी आशासे अभिमुखी गति सिद्ध होती है, अन्योंकी नहीं ॥८६॥

सत्कर्मक्षयपाप्मनां श्रुतिमतां सिद्धात्मनां धीमतां
नित्यानित्यपदार्थशोधनमिदं युक्त्या मुहुः कुर्वताम् ।
तस्मादुत्थमहाविरक्त्यसिमतां मोक्षैककाङ्क्षावतां
धन्यानां सुलभं स्त्रियादिविषयेष्वाशालताच्छेदनम् ॥८७॥

सत्कर्मोंके करनेसे जिनके पूर्वजन्म और वर्तमान जन्मके पापोंका क्षय हो गया है, वेदोंका अध्ययन करनेवाले हैं। योगसाधनोंद्वारा जिनका मन वशमें हो गया है, जो बुद्धिमान्

हैं, जो युक्तिद्वारा नित्य, अनित्य पदार्थका बार-बार शोधन करनेवाले हैं उससे उत्पन्न हुई तीव्र वैराग्यरूपी तलवारको प्राप्त करनेवाले और एकमात्र मोक्षको चाहनेवाले भाग्यशाली पुरुषोंको प्रिय स्त्री आदि विषय पदार्थ सम्बन्धी आशारूपी लताका छेदन करना सुलभ होता है ॥८७॥

संसारमृत्योर्बलिनः प्रवेष्टुं द्वाराणि तु त्रीणि महान्ति लोके ।
कान्ता च जिह्वा कनकं च तानि रुणद्धि यस्तस्य भयं न मृत्योः ॥८८॥

बलवान् संसाररूपी मृत्युके प्रवेश करनेको लोकमें कामनी, जिह्वा और सुवर्ण ये तीन बड़े द्वार हैं। जो पुरुष इन तीन द्वारोंको रोकता है उसे मृत्युका भय नहीं होता है ॥८८॥

मुक्तिश्रीनगरस्य दुर्जयतरं द्वारं यदस्यादिमं
तस्य द्वे अररे धनं च युवती ताभ्यां पिनद्धं दृढम् ।
कामाख्यार्गलदारुणा बलवता द्वारं तदेतत्त्रयं
धीरो यस्तु भिनत्ति सोऽर्हति सुखं भोक्तुं विमुक्तिश्रियः ॥८९॥

मुक्तिरूपी लक्ष्मीनगरका जो अतिदुर्जेय पहला द्वार है, उसके धन और स्त्री दो किवाड़ हैं। उनसे बलवान् काम नामक काठके अर्गलेसे द्वार दृढ़तासे बन्द किया गया है। परन्तु जो धीरपुरुष इन तीनोंका भेदन करता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीका सुख भोगनेको समर्थ होता है ॥८९॥

आरूढस्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्यखड्गिनः ।
तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते ॥९०॥

जो पुरुष विवेकरूपी अश्वपर सवार है, तीव्र वैराग्यरूपी खड्गको धारण किया हुआ है, और तितिक्षारूपी कवचको पहने हुआ है, संसार युद्धमें उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई दीखता नहीं ॥९०॥

विवेकजां तीव्रविरक्तिमेव मुक्तेर्निदानं निगदन्ति सन्तः ।
तस्माद्विवेकी विरतिं मुमुक्षुः सम्पादयेत्तां प्रथमं प्रयत्नात् ॥९१॥

सत्पुरुष कहते हैं कि नित्यानित्य वस्तुके विवेकसे उत्पन्न तीव्र वैराग्य ही मुक्तिका आदि कारण है। इसलिए विवेकी मुमुक्षुपुरुष सबसे प्रथम प्रयत्नसे उस वैराग्यका सम्पादन करे ॥९१॥

पुमानजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासितुम् ।
न हि शक्नोति निर्वेदो बन्धभेदो महानसौ ॥९२॥

जिसको वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा पुरुष देहरूप बन्धन के त्याग की इच्छा करनेमें समर्थ नहीं होता, क्योंकि यह वैराग्य ही शरीररूपी बन्धनके तोड़नेमें महान् साधन है ॥९२॥

वैराग्यरहिता एव यमालय इवालये ।
क्लिश्नन्ति त्रिविधैस्तापैर्मोहिता अपि पण्डिताः ॥९३॥

वैराग्य रहित पण्डित भी संसारी पदार्थोंमें मोहित हुए यमालयके समान अपने घरमें तीन प्रकारके तापोंसे सदा क्लेश ही पाया करते हैं ॥९३॥

॥ शमादि षट्सम्पत्ति ॥

शमो दमस्तितिक्षोपरतिः श्रद्धा ततः परम् ।
समाधानमिति प्रोक्तं षडेवैते शमादयः ॥९४॥

शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और उसके अनन्तर समाधान, ये शम आदि छः षट् सम्पत्ति कहे गये हैं ॥९४॥

एकवृत्त्यैव मनसः स्वलक्ष्ये नियतस्थितिः ।
शम इत्युच्यते सद्भिः शमलक्षणवेदिभिः ॥९५॥

मनकी एक वृत्तिके द्वारा अपने लक्ष्यमें नियमित स्थिति शम है, ऐसा शमके लक्षणको जाननेवाले विद्वान् कहते हैं ॥९५॥

उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्य इति च त्रिधा ।
निरूपितो विपश्चिद्भिः तत्तल्लक्षणवेदिभिः ॥९६॥

तत्, तत्के लक्षणको जाननेवाले विद्वानोंने उत्तम, मध्यम और जघन्य (अधम) इस भेदसे शमका तीन प्रकारसे निरूपण किया है ॥९६॥

स्वविकारं परित्यज्य वस्तुमात्रतया स्थितिः ।
मनसः सोत्तमा शान्तिर्ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा ॥९७॥

अपने विकारका परित्यागकर केवल वस्तु स्वरूप (आत्मस्वरूप) से जो मनकी स्थिति है, वह परब्रह्मस्वरूप उत्तम शान्ति कही जाती है ॥९७॥

प्रत्यक्प्रत्ययसन्तानप्रवाहकरणं धियः ।
यदेषा मध्यमा शान्तिः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥९८॥

बुद्धिका जो बाहरी वस्तुओंके आकार आदिको छोड़कर केवल आत्मरूप वस्तुका अवलम्बनकर धाराप्रवाहरूपसे एकाकार परिणामरूप प्रत्यय समूह करना, यह शुद्ध सत्त्वरूप मध्यम शान्ति (शम) कही जाती है ॥९८॥

विषयव्यापृतिं त्यक्त्वा श्रवणैकमनः स्थितिः ।
मनसश्चेतरा शान्तिर्मिश्रसत्त्वैकलक्षणा ॥९९॥

विषयोंमें व्यापारोंको त्यागकर केवल वेदान्तवाक्योंके श्रवणमें जो मनकी स्थिति है । यह मनकी मिश्रित सत्त्वरूप अधम शान्ति कही जाती है ॥९९॥

प्राच्योदीच्याङ्गसद्भावे शमः सिध्यति नान्यथा।
तीव्रा विरक्तिः प्राच्याङ्गमुदीच्याङ्गं दमादयः ॥१००॥

पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अङ्गके विद्यमान होनेपर ही शम सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। तीव्रवैराग्य पूर्ववर्ती अङ्ग और दम आदि उत्तरवर्ती अङ्ग हैं ॥१००॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मोहश्च मत्सरः।
न जिताः षडिमे येन तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥१०१॥

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर ये छः जिसके वशीभूत नहीं हैं, उसे शान्ति सिद्ध नहीं होती ॥१०१॥

शब्दादिविषयेभ्यो यो विषवन्न निवर्तते।
तीव्रमोक्षेच्छया भिक्षोस्तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥१०२॥

मोक्षकी तीव्र इच्छा कर जो भिक्षु विषके समान विनाश करनेवाले शब्द आदि विषयोंसे निवृत्त नहीं होता, उसको शान्ति सिद्ध नहीं होती। **'मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्परित्यज'** (आ० रा०) ॥१०२॥

येन नाराधितो देवो यस्य नो गुर्वनुग्रहः।
न वश्यं हृदयं यस्य तस्य शान्तिर्न सिध्यति ॥१०३॥

जिसने परमात्मदेवका आराधन नहीं किया है, जिसके ऊपर गुरुकी कृपा नहीं है, जिसका मन वश में नहीं है, उसीको कभी शान्तिकी सिद्धि नहीं होती ॥१०३॥

॥ मन प्रसाद साधन ॥

मनः प्रसादसिद्ध्यर्थं साधनं श्रूयतां बुधैः।
मनःप्रसादो यत्सत्त्वे यदभावे न सिध्यति ॥१०४॥

जिसके होनेपर मनकी प्रसन्नता सिद्ध होती है और जिसके न होनेपर नहीं होती। मनकी प्रसन्नताकी सिद्धिके लिए उस साधनको विद्वान् लोग सुनें ॥१०४॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च दया भूतेष्ववक्रता।
विषयेष्वतिवैतृष्ण्यं शौचं दम्भविवर्जनम् ॥१०५॥
सत्यं निर्ममता स्थैर्यमभिमानविसर्जनम्।
ईश्वरध्यानपरता ब्रह्मविद्भिः सहस्थितिः ॥१०६॥
ज्ञानशास्त्रैकपरता समता सुखदुःखयोः।
मानानासक्तिरेकान्तशीलता च मुमुक्षुता ॥१०७॥
यस्यैतद्विद्यते सर्वं तस्य चित्तं प्रसीदति।
न त्वेतद्धर्मशून्यस्य प्रकारान्तरकोटिभिः ॥१०८॥

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, प्राणियोंपर दया, सरलता, विषयोंमें अत्यन्त वैराग्य, अन्दर और बाहरकी शुद्धता, दम्भका परित्याग ॥ सत्य, निर्ममता, स्थिरता, अभिमानका त्याग।

ईश्वरके ध्यानमें तत्परता, ब्रह्मज्ञानियोंके साथ सहवास ।। ज्ञानशास्त्र-वेदान्तशास्त्र परायणता, सुख, दुःखमें समानभाव, मानमें अनासक्ति, एकान्तमें रहनेका स्वभाव और मुमुक्षुता ।। जिसमें ये सब उक्त धर्म हैं उसका चित्त प्रसन्न होता है, परन्तु इन धर्मोंसे रहित पुरुषका चित्त अन्य कोटि उपायोंसे भी प्रसन्न नहीं होता ।।१०५-१०८।।

।। ब्रह्मचर्य ।।

स्मरणं दर्शनं स्त्रीणां गुणकर्मानुकीर्तनम् ।
समीचीनत्वधीस्तासु प्रीतिः संभाषणं मिथः ।।१०९।।
सहवासश्च संसर्गोऽष्टधा मैथुनं विदुः ।
एतद्विलक्षणं ब्रह्मचर्यं चित्तप्रसादकम् ।।११०।।

स्त्रियोंका स्मरण, चिन्तन करना, दर्शन करना उनके गुण और कर्मोंका वर्णन करना, उनमें सुन्दरता बुद्धि, उनके ऊपर प्रीति, एकान्तमें बातचीत करना ।। उनके साथ सहवास और सम्बन्ध, इसप्रकार आठ प्रकारके मैथुनको जानते हैं, इससे विपरीत ब्रह्मचर्य है वह चित्तकी प्रसन्नताका हेतु है ।।१०९-११०।।

।। अहिंसा ।।

अहिंसा वाङ्मनःकायैः प्राणिमात्राप्रपीडनम् ।
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ।।१११।।

वाणी, मन और शरीरसे प्राणीमात्रको पीड़ा न देना और मन, बचन और शरीरसे सब प्राणियोंमें आत्माके समान (अपने समान) व्यवहार करना 'अहिंसा' कही जाती है ।।

।। दया-अवक्रता ।।

अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ।
करणत्रितयेष्वेकरूपतावक्रता मता ।।११२।।

सब प्राणियोंपर जो लोक प्रसिद्ध अनुकम्पा है वही वेदान्त-वादियों द्वारा दया कही गई है । कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण इन तीनों करणोंमें एकरूपता अवक्रता-सरलता मानी गई है ।।११२।।

।। वैतृष्ण्यम् ।।

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकबिष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ।।११३।।

काक विष्ठामें जैसी घृणा होती है वैसी घृणा ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त विषयोंमें हो तो वही निर्मल वैतृष्ण्य कहलाता है ।।११३।।

।। शौच ।।

बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं शौचमुच्यते ।
मृज्जलाभ्यां कृतं शौचं बाह्यं शारीरकं स्मृतम् ।।११४।।

अज्ञानदूरीकरणं मानसं शौचमान्तरम् ।
अन्तःशौचे स्थिते सम्यग्बाह्यं नावश्यकं नृणाम् ॥११५॥

बाह्य और आभ्यन्तर इस भेदसे शौच दो प्रकारका कहा जाता है । मृत्तिका और जलसे किया गया शारीरक शौच, स्मृतियोंमें बाह्य शौच कहा जाता है ॥ ज्ञानके द्वारा अज्ञानको दूर करना मनका शौच आन्तर-शौच है । भली प्रकारसे आन्तर शौचके सिद्ध होनेपर मनुष्योंको फिर बाह्य शौचकी आवश्यकता नहीं है ॥११४-११५॥

॥ दम्भ, सत्य, निर्ममता, स्थैर्य, अभिमानविसर्जन, ईश्वरध्यान, ब्रह्मवित्सहवास ॥

ध्यानपूजादिकं लोके द्रष्टर्येव करोति यः ।
पारमार्थिकधीहीनः स दम्भाचार उच्यते ॥११६॥
पुंसस्तथानाचरणमदम्भित्वं विदुर्बुधाः ।
यत्स्वेन दृष्टं सम्यक्च श्रुतं तस्यैव भाषणम् ॥११७॥
सत्यमित्युच्यते ब्रह्म सत्यमित्यभिभाषणम् ।
देहादिषु स्वकीयत्वदृढबुद्धिविसर्जनम् ॥११८॥

देखनेवालेके विद्यमान होनेपर केवल दिखानेकी इच्छासे ही संसारमें जो ध्यान-पूजा आदि करता है । पारमार्थिक विषयक बुद्धि श्रद्धासे रहित वह पुरुष दम्भाचारी कहा जाता है ॥ जिस पुरुषमें उसीप्रकारका आचरण नहीं है, उसे विद्वान् लोग अदम्भी जानते हैं । जो अपने आपसे देखा गया हो और विश्वासपात्रसे यथार्थ सुना हो उसका ही भाषण करना सत्य कहा जाता है 'ब्रह्म सत्य है' ऐसा सर्वदा सर्वत्र कहना भी 'सत्य' कहा जाता है । देह आदि पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं' इस प्रकारकी हठबुद्धिका त्याग निर्ममता कही गई है, जिससे विवेकीपुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥११६-११८॥

निर्ममत्वं स्मृतं येन कैवल्यं लभते बुधः ।
गुरुवेदान्तवचनैर्निश्चितार्थे दृढस्थितिः ॥११९॥
तदेकवृत्त्या तत्स्थैर्यं नैश्चल्यं न तु वर्ष्मणः ।
विद्यैश्वर्यतपोरूपकुलवर्णाश्रमादिभिः ॥ १२० ॥
सन्जाताहंकृतित्यागस्त्वभिमानविसर्जनम् ।
त्रिभिश्च करणैः सम्यग्हित्वा वैषयिकीं क्रियाम् ॥१२१॥
स्वात्मैकचिन्तनं यत्तदीश्वरध्यानमीरितम् ।
छायेव सर्वदा वासो ब्रह्मविद्भिः सहस्थितिः ॥१२२॥

गुरु और वेदान्तवाक्योंके द्वारा निश्चित किये हुए पदार्थमें चित्तकी एकाकारवृत्तिसे जो दृढस्थिति है वह स्थिरता है, केवल शरीरकी निश्चलता स्थिरता नहीं कही जाती है । विद्या, ऐश्वर्य, तप, सौन्दर्य, कुल, वर्ण, आश्रम आदिसे उत्पन्न हुए अहंकारका त्याग ही अभिमानका त्याग है । कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरणरूप तीन करणों

द्वारा वैषयिक-विषय-सम्बन्धी क्रियाका भली प्रकार परित्यागकर जो अपनी आत्माका चिन्तन है वही ईश्वरध्यान कहा गया है। शरीरछायाके समान सर्वदा ब्रह्मज्ञानियोंके साथ वास-सहवास कहलाता है ॥ ११९-१२२ ॥

॥ ज्ञाननिष्ठा ॥

यद्यदुक्तं ज्ञानशास्त्रे श्रवणादिक्रमेषु यः ।
निरतः कर्मधीहीनो ज्ञाननिष्ठः स एव हि ॥ १२३ ॥

ज्ञानशास्त्रमें जो जो कहा गया है, श्रवण, मनन आदि क्रममें कर्मबुद्धिसे रहित होकर जो पुरुष तत्पर है वह ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है ॥ १२३ ॥

॥ समत्व ॥

धनकान्ताज्वरादीनां प्राप्तकाले सुखादिभिः ।
विकारहीनतैव स्यात्सुखदुःखसमानता ॥ १२४ ॥

धन, स्त्री, ज्वर आदिके प्राप्तिकालमें भी सुख आदिसे चित्तमें विकाररहित हो वही सुख-दुःखमें समत्व है ॥१२४॥

॥ मानानासक्ति ॥

श्रेष्ठं पूज्यं विदित्वा मां मानयन्तु जना भुवि ।
इत्यासक्त्या विहीनत्वं मानानासक्तिरुच्यते ॥ १२५ ॥

मुझे श्रेष्ठ और पूज्य जानकर लोग भूतलपर सम्मान करें। इसप्रकारकी आसक्तिका त्याग ही मानमें अनासक्ति कही जाती है ॥१२५॥

॥ एकान्तशीलता ॥

सच्चिन्तनस्य संबाधो विघ्नोऽयं निर्जने ततः ।
स्थेयमित्येक एवास्ति चेत्सैवैकान्तशीलता ॥ १२६ ॥

मनुष्योंसे भरा हुआ यह स्थान ब्रह्मचिन्तनमें विघ्नरूप है, अतः निर्जन स्थानमें रहना चाहिए, इसप्रकार यदि एकाकी हो तो वही एकान्तशीलता है ॥१२६॥

॥ मुमुक्षुता ॥

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कदा झटिति मे भवेत् ।
इति या सुदृढा बुद्धिरीरिता सा मुमुक्षुता ॥१२७॥

किस समय इस संसार बन्धनसे मेरी अतिशीघ्र मुक्ति होगी। ऐसी जो सुदृढ़बुद्धि भावना वही शास्त्रोंमें मुमुक्षुता कही गई है ॥१२७॥

॥ दम ॥

ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्बुद्धेर्दोषनिवृत्तये ।
दण्डनं दम इत्याहुर्दमशब्दार्थकोविदाः ॥१२८॥

तत्तद्वृत्तिनिरोधेन बाह्येन्द्रियविनिग्रहः।
योगिनो दम इत्याहुर्मनसः शान्तिसाधनम् ॥१२९॥
इन्द्रियेष्विन्द्रियार्थेषु प्रवृत्तेषु यदृच्छया।
अनुधावति तान्येव मनोवायुमिवानलः ॥१३०॥
इन्द्रियेषु निरुद्धेषु त्यक्त्वा वेगं मनः स्वयम्।
सत्त्वभावमुपादत्ते प्रसादस्तेन जायते।
प्रसन्ने सति चित्तेऽस्य मुक्तिः सिध्यति नान्यथा ॥१३१॥

ब्रह्मचर्य आदि धर्मों द्वारा काम, क्रोध आदि बुद्धिके दोषोंकी निवृत्तिके लिए जो दण्ड, उसको दमशब्दके अर्थको जाननेवाले 'दम' कहते हैं। तत्-तत् विषयाकार वृत्तिके निरोधसे जो बाह्य इन्द्रियोंका विशेष निग्रह है, उसको योगी लोग मनकी शान्तिका साधन 'दम' कहते हैं। इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेपर वायुके पीछे अग्निके समान यथेच्छरूपसे मन उनके पीछे दौड़ता है। इन्द्रियोंके विषयोंसे निरुद्ध हो जानेपर मन स्वयं ही वेगको त्यागकर सत्त्वगुणके स्वभावको प्राप्त करता है, इससे मनमें शुद्धता उत्पन्न होती है। चित्तके शुद्ध होनेपर इस जीवात्माकी मुक्ति सिद्ध होती है, किसी अन्य प्रकारसे नहीं ॥१२८—१३१॥

मनः प्रसादस्य निदानमेव निरोधनं यत्सकलेन्द्रियाणाम्।
बाह्येन्द्रिये साधु निरुध्यमाने बाह्यर्थभोगो मनसो वियुज्यते ॥१३२॥
तेन स्वदौष्ट्यं परिमुच्य चित्तं शनैः शनैः शान्तिमुपाददाति।
चित्तस्य बाह्यर्थविमोक्षमेव मोक्षं विदुर्मोक्षणलक्षणज्ञाः ॥१३३॥
दमं विना साधु मनःप्रसादहेतुं न विद्मः सुकरं मुमुक्षोः।
दमेन चित्तं निजदोषजातं विसृज्य शान्तिं समुपैति शीघ्रम् ॥१३४॥

सब इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे जो निरोध है, वही मनकी शुद्धिका प्रथम कारण है। भली प्रकारसे बाह्येन्द्रियोंके निरुद्ध होनेपर बाह्यार्थका भोग भी मनसे निवृत्त हो जाता है। विषयोंसे बाह्येन्द्रियोंके निरुद्ध होनेसे चित्त अपनी दुष्टता का त्यागकर धीरे धीरे शान्तिको प्राप्त करता है। मोक्षका लक्षण जाननेवाले ऐसा समझते हैं कि चित्तका बाह्यार्थोंसे निवृत्त होना ही मोक्ष है। इन्द्रिय निग्रहरूप दमके विना मुमुक्षु पुरुषके मनकी शान्तिका अच्छा और सुलभ उपाय हम नहीं जानते हैं, दमसे चित्त अपने सब दोषोंको छोड़कर शीघ्र ही शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १३२—१३४ ॥

प्राणायामाद्भवति मनसो निश्चलत्वं प्रसादो
यस्याप्यस्य प्रतिनियतदिग्देशकालाद्यवेक्ष्य।
सम्यग्दृष्ट्या क्वचिदपि तया नो दमो हन्यते त-
त्कुर्याद्धीमान्दममनलसश्चित्तशान्त्यै प्रयत्नात् ॥१३५॥

सर्वेन्द्रियाणां गतिनिग्रहेण भोग्येषु दोषाद्यवमर्शनेन ।
ईशप्रसादाच्च गुरोः प्रसादाच्छान्तिं समायात्यचिरेण चित्तम् ॥१३६॥

शास्त्र प्रतिपादित नियत दिशा, देश, काल आदिको देखकर प्राणायामसे जिसका मन निश्चल और शान्त है, तो उस सम्यक् दृष्टिसे कहींपर भी उसके दमका नाश नहीं होता । इसलिए बुद्धिमान् पुरुष आलस्य रहित होकर प्रयत्नसे चित्तकी शान्तिके लिए दम करें । भोग्य पदार्थोंमें दोष आदिके विचारसे सब इन्द्रियोंकी गति रोकनेसे ईश्वरके अनुग्रह और गुरुकृपासे चित्त शीघ्र ही शान्तिको प्राप्त होता है ॥१३५-१३६॥

॥ तितिक्षा ॥

आध्यात्मिकादि यद्दुःखं प्राप्तं प्रारब्धवेगतः ।
अचिन्तया तत्सहनं तितिक्षेति निगद्यते ॥१३७॥

प्रारब्ध कर्मके वेगसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक जो दुःख प्राप्त हो, विना चिन्ता किये उसे सहना 'तितिक्षा' है, ऐसा विचारशील कहते हैं ॥१३७॥

रक्षा तितिक्षासदृशी मुमुक्षोर्न विद्यतेऽसौ पविना न भिद्यते ।
यामेव धीराः कवचीव विघ्नान्सर्वांस्तृणीकृत्य जयन्ति मायाम् ॥१३८॥

मुमुक्षुकी तितिक्षाके समान कोई अन्य रक्षा नहीं है, यह वज्रसे भी टूटती नहीं । शरीरपर कवच धारण किये हुए पुरुषके समान धीरपुरुष सब विघ्नोंको तृणके समान जानकर जिस मायाको जीतते हैं ॥१३८॥

क्षमावतामेव हि योगसिद्धिः स्वाराज्यलक्ष्मीसुखभोगसिद्धिः ।
क्षमाविहीना निपतन्ति विघ्नैर्वातेर्हताः पर्णचया इव द्रुमात् ॥१३९॥

क्षमावालोंको ही समाधि सिद्धि और स्वर्गके ऐश्वर्यसे सुख भोग सिद्धि होती है परन्तु क्षमारहित पुरुष वायुसे आहित जैसे पर्ण (पत्ते) समुदाय वृक्षसे गिरते हैं, वैसे विघ्नोंकी बाधासे गिरते हैं अर्थात् योग भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१३९॥

तितिक्षया तपो दानं यज्ञस्तीर्थं व्रतं श्रुतम् ।
भूतिः स्वर्गोऽपवर्गश्च प्राप्यते तत्तदर्थिभिः ॥१४०॥

तप, दान, यज्ञ, तीर्थ, व्रत, विद्या, ऐश्वर्य, स्वर्ग और मोक्ष तत् तत् फलार्थीसे तितिक्षाद्वारा प्राप्त किया जाता है ॥१४०॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च साधूनामप्यगर्हणम् ।
पराक्षेपादिसहनं तितिक्षोरेव सिध्यति ॥१४१॥

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, साधु पुरुषोंकी अनिन्दा, अन्य द्वारा किये गये आक्षेप आदिका सहन यह सब तितिक्षु पुरुषको ही सिद्ध होता है ॥१४१॥

साधनेष्वपि सर्वेषु तितिक्षोत्तमसाधनम् ।
यत्र विघ्नाः पलायन्ते दैविका अपि भौतिकाः ॥१४२॥

मोक्षके सभी साधनोंमें भी तितिक्षा उत्तम साधन है जिस तितिक्षाके सिद्ध होनेपर दैविक और भौतिक विघ्न भी भाग जाते हैं ॥१४२॥

तितिक्षोरेव विघ्नेभ्यस्त्वनिर्वर्तितचेतसः।
सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्याः समृद्धयः ॥१४३॥

अनेक विघ्नोंके उपस्थित होनेपर भी जिसका चित्त मोक्षमार्गसे हटता नहीं, ऐसी तितिक्षावाले पुरुषको अणिमा आदि सब सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं ॥१४३॥

तस्मान्मुमुक्षोरधिका तितिक्षा संपादनीयेप्सितकार्यसिद्ध्यै।
तीव्रा मुमुक्षा च महत्युपेक्षा चोभे तितिक्षासहकारिकारणम् ॥१४४॥

इसलिए इच्छित कार्यकी सिद्धिके लिए मुमुक्षुको अधिक तितिक्षा सम्पादन करनी चाहिए, तीव्र मुमुक्षा और विषयोंकी ओरसे अत्यधिक उपेक्षा ये दोनों तितिक्षाके सहकारी कारण हैं ॥१४४॥

तत्तत्कालसमागतामयततेः शान्त्यै प्रवृत्तो यदि
स्यात्तत्तत्परिहारकौषधरतस्तच्चिन्तने तत्परः।
तद्भिक्षुः श्रवणादिधर्मरहितो भूत्वा मृतश्चेत्ततः
किं सिद्धं फलमाप्नुयादुभयथा भ्रष्टो भवेत्स्वार्थतः ॥१४५॥

जैसे कोई जिस जिस समयपर प्राप्त रोग समूहकी शान्तिके लिए प्रवृत्त हो उस रोगकी निवारक ओषधमें रत और उसकी चिन्तामें मग्न हो, वैसे संन्यासी तितिक्षामें तत्पर हो और वेदान्त श्रवण आदि धर्मोंसे रहित होकर यदि मर जाय तो क्या वह प्रसिद्ध फलको प्राप्त होगा ? दोनों प्रकार अपने प्रयोजनसे भ्रष्ट होगा ? ॥१४५॥

योगमभ्यस्यतो भिक्षोर्योगाच्चलितचेतसः।
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानित्यादि प्राह केशवः ॥१४६॥

योगका अभ्यास करनेवाले संन्यासीका यदि 'अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः' (गी० ६-३७) योगसे मन विचलित हो जाय तो 'प्राप्य पुण्य कृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' (गी० ६-४१) (पुण्योंसे सम्पादित लोकोंको प्राप्तकर पीछे पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है), इत्यादि भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है ॥१४६॥

न तु कृत्वैव संन्यासं तूष्णीमेव मृतस्य हि।
पुण्यलोकगतिं ब्रूते भगवान्न्यासमात्रतः ॥१४७॥

केवल संन्यासाश्रमको ग्रहणकर किसीप्रकार योगसाधनके विना चुपचाप ही मर जानेवालेको संन्यासमात्रसे पुण्यलोककी गतिप्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण नहीं कहते ॥

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।
इत्यननुष्ठेयसंत्यागादिसिद्ध्यभावमुवाच [illegible] ॥१४८॥

केवल संन्यासमात्रसे ज्ञानसिद्धिको प्राप्त नहीं होता, अतः भगवान् श्रीकृष्णने अनुष्ठेय कर्तव्यकर्मके त्याग देनेसे सिद्धिका अभाव कहा है ॥१४८॥

तस्मात्तितिक्षया सोढ्वा तत्तद्दुःखमुपागतम् ।
कुर्याच्छक्त्यनुरूपेण श्रवणादि शनैः शनैः ॥१४९॥

इसलिए प्रारब्धवश प्राप्त हुए तत् तत् दुःखको तितिक्षाद्वारा सहनकर साधक अपनी शक्तिके अनुसार धीरे धीरे वेदान्तका श्रवण आदि करे ॥१४९॥

प्रयोजनं तितिक्षायाः साधितायाः प्रयत्नतः ।
प्राप्तदुःखासहिष्णुत्वे न किञ्चिदपि दृश्यते ॥१५०॥

पूर्वजन्मकृत कर्मवश प्राप्त दुःखको यदि न सहा जाय तो प्रयत्नसे साधित तितिक्षाका कुछ भी फल नहीं दिखाई देता ॥१५०॥

॥ संन्यास ॥

साधनत्वेन दृष्टानां सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
विधिना यः परित्यागः स संन्यासः सतां मतः ॥१५१॥

साधनरूपसे दृष्ट सब नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधिपूर्वक परित्याग ही संन्यास है, ऐसा सत्पुरुषोंका मत है ॥१५१॥

उपरमयति कर्माणीत्युपरतिशब्देन कथ्यते न्यासः ।
न्यासेन हि सर्वेषां श्रुत्याप्रोक्तो विकर्मणां त्यागः ॥१५२॥

'उपरमयति कर्माणि इत्युपरतिः' जो सब कर्मोंसे उपराम करा देता है वह उपरति है' इस व्युत्पत्तिसे उपरतिशब्दको संन्यास कहा जाता है । सभी कर्मोंके त्याग होनेसे श्रुति द्वारा विरुद्ध कर्मोंका भी त्याग प्राप्त होता है ॥१५२॥

कर्मणा साध्यमानस्यानित्यत्वं श्रूयते यतः ।
कर्मणानेन किं नित्यफलेप्सोः परमार्थिनः ॥१५३॥

क्योंकि कर्मके द्वारा साध्यमान फल अनित्य है, **'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते । एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते'** (छा० ८।१।६) ऐसा श्रुतिमें कहा गया है । मोक्षरूप नित्य फलाभिलाषी परमार्थी पुरुषको इस कर्मसे क्या फल होगा ? ॥१५३॥

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं परिगण्यते ।
चतुर्विधं कर्मसाध्यं फलं नान्यदितः परम् ॥१५४॥

क्रिया (उत्पत्ति, आप्ति, संस्कृति और विकृति) साध्य फल-उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्य इस भेदसे चार प्रकारका गिना जाता है । उत्पाद्य-उत्पत्ति योग्य जैसे तन्तुओंसे वस्त्र, मृत्तिकासे घट आदि । आप्य-प्राप्तियोग्य—जैसे देवदत्तकी गमनक्रिया द्वारा प्राप्त ग्राम आदि आप्य हैं । संस्कार्य-संस्कारके योग्य—संस्कार दो प्रकारका है । एक दोषापनयन और दूसरा गुणाधान । जैसे घर्षण आदि क्रियाद्वारा वस्त्र आदिके मलरूप दोषका अपनयन

और 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (धानको प्रोक्षण करे) यज्ञमें धानको मन्त्रद्वारा जलसे छिड़कना। इससे धानमें अदृष्टरूप गुणविशेषके आनेसे गुणाधान कहा जाता है। विकार्य—विकृतिके योग्य जैसे दूधसे दही आदि, दही दूधका विकार है। इससे भिन्न अन्य फल नहीं है ॥१५४॥

नैतदन्यतरं ब्रह्म कदा भवितुमर्हति।
स्वतःसिद्धं सर्वदाप्तं शुद्धं निर्मलमक्रियम् ॥१५५॥

ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध सर्वदा प्राप्त शुद्ध निर्मल और अविक्रिय है, अतः इन उत्पाद्य आदि चारों क्रियाफलोंमेंसे एक भी ब्रह्ममें कभी होने योग्य नहीं है ॥१५५॥

न चास्य कश्चिज्जनितेत्यागमेन निषिध्यते।
कारणं ब्रह्मणस्तस्माद्ब्रह्म नोत्पाद्यमिष्यते ॥१५६॥

'न चास्य कश्चिज्जनिता' (श्वेताश्वतर ६।९) इस ब्रह्मका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है, इस श्रुतिसे ब्रह्मके कारणका निषेध किया जाता है, इससे ब्रह्म किसी क्रियासे उत्पाद्यरूप कर्मफल स्वीकार नहीं किया जाता ॥१५६॥

आप्त्राप्ययोस्तु भेदश्चेदाप्त्रा चाप्यमवाप्यते।
आप्तृस्वरूपमेवैतद्ब्रह्म नाप्यं कदाचन ॥१५७॥

आप्ता और आप्यमें यदि भेद हो तो आप्ता द्वारा आप्य प्राप्त किया जाता है, परन्तु यह ब्रह्म तो आप्तृस्वरूप ही है, अतः वह कदाचिद् भी आप्यरूप कर्मफल नहीं है ॥१५७॥

मलिनस्यैव संस्कारो दर्पणादेरिहेष्यते।
व्योमवन्नित्यशुद्धस्य ब्रह्मणो नैव संस्क्रिया ॥१५८॥

संसारमें मलिनदर्पण आदिका ही संस्कार अभिलषित है, किन्तु आकाशके समान नित्य शुद्ध ब्रह्मका संस्कार ही नहीं होता ॥१५८॥

केन दुष्टेन युज्येत वस्तु निर्मलमक्रियम्।
यद्योगादागतं दोषं संस्कारो विनिवर्तयेत् ॥१५९॥

निर्मल और क्रियारहित ब्रह्मरूप वस्तु यदि किसी दुष्ट वस्तुसे युक्त हो तो उसके सम्बन्धसे आये दोषको संस्कार निवृत्त करेगा? परन्तु ऐसा तो है नहीं ॥१५९॥

निर्गुणस्य गुणाधानमपि नैवोपपद्यते।
केवलो निर्गुणश्चेति नैर्गुण्यं श्रूयते यतः ॥१६०॥

क्योंकि 'केवलो निर्गुणश्च' (श्वेताश्वतर० ६।११) (ब्रह्म अद्वितीय और निर्गुण है) इसप्रकार श्रुति ब्रह्मको निर्गुण कहती है, इससे निर्गुण ब्रह्मका गुणाधानरूपी संस्कार भी नहीं हो सकता ॥१६०॥

सावयवस्य क्षीरादेर्वस्तुनः परिणामिनः।
येन केन विकारित्वं स्यान्नो निष्कर्मवस्तुनः ॥१६१॥

सावयव परिणामी दूध आदि वस्तुओंका तो जिस किससे विकार हो सकता है, परन्तु निष्क्रिय वस्तुका किसी प्रकार विकार नहीं हो सकता है ॥१६१॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
इत्येव वस्तुनस्तत्त्वं श्रुतियुक्तिव्यवस्थितम् ॥१६२॥

'निष्कलं निष्क्रियं०' (श्वेता० ३।१९) निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्लेप इसप्रकार आत्मरूपी वस्तुका स्वरूप श्रुति और युक्ति द्वारा निर्णीत किया गया है ॥१६२॥

तस्मान्न कर्मसाध्यत्वं ब्रह्मणोऽस्ति कुतश्चन ।
कर्मसाध्यं त्वनित्यं हि ब्रह्म नित्यं सनातनम् ॥१६३॥

इस कारण ब्रह्म किसी प्रकार भी कर्मसाध्य नहीं है, जो कर्मसाध्य होता है वह अनित्य होता है, किन्तु ब्रह्म तो नित्य और सनातन है ॥१६३॥

देहादिः क्षीयते लोको यथैवं कर्मणा चितः ।
तथैवामुष्मिको लोको संचितः पुण्यकर्मणा ॥१६४॥

'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छां० ८।१।६) इस लोकमें जैसे कर्मसे सम्पादित देह आदि लोक (भोग्यपदार्थ) नष्ट होते हैं, वैसे ही पुण्यकर्मसे सम्पादित स्वर्ग आदि परलोक भी नष्ट होते हैं ॥१६४॥

कृतकत्वमनित्यत्वे हेतुर्जागर्ति सर्वदा ।
तस्मादनित्ये स्वर्गादौ पण्डितः को नु मुह्यति ॥१६५॥

'जगद्रूप कार्यं अनित्यं कर्मसाध्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्म' अनित्यत्वरूप साध्यको सिद्ध करनेमें क्रियासाध्यत्वरूप साधक हेतु सर्वदा जागता रहता है अर्थात् क्रिया-साध्यत्व ही अनित्यत्वमें हेतु है, अतएव अनित्य स्वर्ग आदि लोकोंमें कौन विद्वान् मोहको प्राप्त होता है ? ॥१६५॥

जगद्धेतोस्तु नित्यत्वं सर्वेषामपि सम्मतम् ।
जगद्धेतुत्वमस्यैव वावदीति श्रुतिर्मुहुः ॥१६६॥

जगत्का हेतु ब्रह्म तो नित्य है, यह बात सब वादियोंको भी सम्मत है । **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** (तै० ३।१) **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'** (श्वेता० ६।१८) जगत्का हेतु ब्रह्म ही है, ऐसा श्रुति बार-बार कहती है ॥१६६॥

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमिति च श्रुतिः ।
अस्यैव नित्यतां ब्रूते जगद्धेतोः सतः स्फुटम् ॥१६७॥

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्य स आत्मा' (छा० ६।८।७) 'यह सब जगत् आत्मा-ब्रह्मरूप है और वह सत्य है' इससे यह श्रुति जगत्के हेतुभूत इस ब्रह्ममें ही स्पष्टरूपसे नित्यत्व प्रतिपादन करती है ॥१६७॥

न कर्मणा न प्रजया धनेनेति स्वयं श्रुतिः।
कर्मणो मोक्षहेतुत्वं साक्षादेव निषेधति ॥१६८॥

'न कर्मणा न प्रजया धनेन' (कैव० ३) (न कर्मसे, न प्रजासे, न धनसे, मोक्ष प्राप्ति होती है) इसप्रकार स्वयं श्रुति कर्ममें मोक्षहेतुताका प्रत्यक्षरूपसे ही निषेध करती है ॥१६८॥

प्रत्यग्ब्रह्मविचारपूर्वमुभयोरेकत्वबोधाद्विना
कैवल्यं पुरुषस्य सिध्यति परब्रह्मात्मतालक्षणम्।
न स्नानैरपि कीर्तनैरपि जपैर्नो कृच्छ्रचान्द्रायणै-
र्नो वाप्यध्वरयज्ञदाननिगमैर्नो मन्त्रतन्त्रैरपि ॥१६९॥

पुरुषका परब्रह्मकी आत्मस्वरूपसे प्राप्तिरूप मोक्ष जीव और ब्रह्मके विचार पूर्वक दोनोंके एकत्व ज्ञानके विना स्नानोंसे, कीर्तनोंसे, जपोंसे, कृच्छ्रचान्द्रायण व्रतोंसे बावली, कूप, याग, यज्ञ, दान, वेदाध्ययन और मन्त्र तन्त्रोंसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है ॥१६९॥

ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति श्रुत्या निगद्यते।
ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमन्यव्यावृत्तिपूर्वकम् ॥१७०॥

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (मोक्ष तो ज्ञानसे ही होता है) इसप्रकार श्रुति अन्य साधनोंकी व्यावृत्ति पूर्वक ज्ञानमें ही मोक्ष हेतुता कहती है ॥१७०॥

विवेकिनो विरक्तस्य ब्रह्मनित्यत्ववेदिनः।
तद्भावेच्छोरनित्यार्थे तत्सामग्र्ये कुतो रतिः ॥१७१॥

ब्रह्मको नित्य जाननेवाले विवेकी विरक्त और ब्रह्मभावके इच्छुक पुरुषकी स्वर्ग आदि अनित्य पदार्थ और उनकी सामग्रीमें प्रीति कहाँ? ॥१७१॥

तस्मादनित्ये स्वर्गादौ साधनत्वेन चोदितम्।
नित्यं नैमित्तिकं चापि सर्वं कर्म ससाधनम् ॥१७२॥
मुमुक्षुणा परित्याज्यं ब्रह्मभावमभीप्सुना।
मुमुक्षोरपि कर्मास्तु श्रवणं चापि साधनम् ॥१७३॥
हस्तवद्द्वयमेतस्य स्वकार्यं साधयिष्यति।
यथा विजृम्भते दीपो ऋजूकरणकर्मणा ॥१७४॥
तथा श्रवणजो बोधः पुंसो विहितकर्मणा।
अतः सापेक्षितं ज्ञानमथवापि समुच्चयम् ॥१७५॥
मोक्षस्य साधनमिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः।
मुमुक्षोर्युज्यते त्यागः कथं विहितकर्मणः ॥१७६॥
इति शङ्का न कर्तव्या मूढवत्पण्डितोत्तमैः।
कर्मणः फलमन्यत्तु श्रवणस्य फलं पृथक् ॥१७७॥

वैलक्षण्यं च सामग्र्योश्चोभयत्राधिकारिणोः ।
कामी कर्मण्यधिकृतो निष्कामो श्रवणे मतः ॥१७८॥

अतः ब्रह्मभावको चाहनेवाले मुमुक्षु पुरुषद्वारा अनित्य स्वर्ग आदि उसके साधनरूपसे विहित नित्य और नैमित्तिक और साधन सहित सब कर्म परित्यागकर देने चाहिए। मुमुक्षुको भी वेदान्त श्रवणरूप कर्म और उसका साधन कर्तव्य है। इस मुमुक्षुका ये दोनों साधन हाथोंके समान अपने कार्यको सिद्ध करेंगे। बत्तीको सीधा कर देनारूप कर्मसे जैसे दीपक वृद्धिको प्राप्त होता है, वैसे ही विहित कर्मसे पुरुषका बोध वृद्धिको प्राप्त होता है। अतः कर्मोंकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान अथवा नित्य नैमित्तिक कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर मोक्षके साधन हैं, ऐसा ब्रह्मवादी लोग कहते हैं। तो मुमुक्षुको विहित कर्मका त्याग कैसे युक्त है? मूढके समान श्रेष्ठ विद्वानोंद्वारा ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए? क्योंकि विहित नित्य नैमित्तिक कर्मका फल भिन्न है और वेदान्त श्रवणका फल पृथक् है। दोनोंकी सामग्री और दोनोंमें अधिकारीका भेद है। फलकामनावाला कर्ममें अधिकारी है और निष्कामी पुरुष वेदान्त श्रवण आदिमें अधिकारी है, ऐसा माना गया है ॥१७२-१७८॥

अर्थी समर्थ इत्यादि लक्षणं कर्मिणो मतम् ।
परीक्ष्य लोकानित्यादि लक्षणं मोक्षकाङ्क्षिणः ॥१७९॥

मोक्षाधिकारी संन्यासी गृहस्थः किल कर्मणि ।
कर्मणः साधनं भार्यास्रक्स्रुवादिपरिग्रहः ॥१८०॥

कर्म फलका अभिलाषी और नित्य नैमित्तिक कर्म करनेमें समर्थ इत्यादि लक्षण कर्मीका माना गया है, 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' (मुण्ड० १।२।१२) (कर्मोंसे सम्पादित लोकों-भोगोंकी परीक्षाकर) इत्यादि लक्षण मोक्ष चाहनेवालेका माना गया है॥ मोक्षका अधिकारी संन्यासी है और गृहस्थ कर्मका अधिकारी है! स्त्री, माला, स्रुवा आदि समुदाय कर्मका साधन है ॥१८०॥

नैवान्यसाधनापेक्षा शुश्रूषोस्तु गुरुं विना ।
उपर्युपर्यहंकारो वर्धते कर्मणा भृशम् ॥१८१॥

वेदान्त श्रवणके अभिलाषी को गुरुके विना अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं है कर्मसे तो आगे आगे अधिक अहंकार बढ़ता है ॥१८१॥

अहंकारस्य विच्छित्तिः श्रवणेन प्रतिक्षणम् ।
प्रवर्तकं कर्मशास्त्रं ज्ञानशास्त्रं निवर्तकम् ॥१८२॥

वेदान्तश्रवणसे प्रतिक्षण अहंकारका नाश होता है। कर्मशास्त्र प्रवृत्तिका हेतु है जबकि ज्ञानशास्त्र-वेदान्तशास्त्र निवृत्तिका हेतु है ॥१८२॥

इत्यादिवैपरीत्यं तत्साधने चाधिकारिणोः।
द्वयोः परस्परापेक्षा विद्यते न कदाचन ॥१८३॥

सामग्र्योश्चोभयोस्तद्वदुभयत्राधिकारिणोः।
ऊर्ध्वं नयति विज्ञानमधः प्रापयति क्रिया ॥१८४॥

कथमन्योन्यसापेक्षा कथं वापि समुच्चयः।
यथाग्नेस्तृणकूटस्य तेजसस्तिमिरस्य च ॥१८५॥

सहयोगो न घटते तथैव ज्ञानकर्मणोः।
किमूपकुर्याज्ज्ञानस्य कर्म स्वप्रतियोगिनः॥
यस्य संनिधिमात्रेण स्वयं न स्फूर्तिमृच्छति ॥१८६॥

कर्मके साधन और ज्ञानके साधन, कर्मके अधिकारी और ज्ञानके अधिकारीमें अत्यन्त वैलक्षण्य है। अतः दोनों प्रकारके साधनों और दो स्थलोंमें दोनों अधिकारियोंमें कदाचित् भी परस्पर अपेक्षा नहीं है। ज्ञान सर्वोत्कृष्ट परमब्रह्मको प्राप्त कराता है और कर्म अधोगतिको प्राप्त कराता है। ऐसी परिस्थितिमें परस्परकी-ज्ञानको कर्मकी अपेक्षा कैसे हो सकती है और कर्म और ज्ञानका समुच्चय भी कैसे हो सकता है? जैसे अग्निका और तृण समूहका एवं तेज-प्रकाश और अन्धकारका समुच्चय नहीं हो सकता है। वैसे ही ज्ञान और कर्मका सहयोग-एक पुरुषद्वारा युगपत् नहीं हो सकता। तो फिर कर्म अपने विरोधी ज्ञानका क्या उपकार करेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं, भला जिस ज्ञानकी संनिधिमात्रसे स्वयं कर्म विकासको प्राप्त नहीं होता, तो वह ज्ञानका क्या उपकार कर सकता है? ॥१८३—१८६॥

कोटीन्धनाद्रिज्वलितोऽपि वह्निरर्कस्य नार्हत्युपकर्तुमीषत्।
यथा तथा कर्मसहस्रकोटिर्ज्ञानस्य किं नु स्वयमेव लीयते ॥१८७॥

जैसे पर्वतके समान इंधनके करोड़ों ढेरोंसे प्रज्वलित हुई भी अग्नि सूर्यका थोड़ा भी उपकार करनेको समर्थ नहीं है, वैसे सहस्र कोटि कर्म ज्ञानका उपकार करनेमें समर्थ नहीं है, किन्तु कर्म तो स्वयं ही लीन हो जाता है ॥१८७॥

एककर्त्राश्रयौ हस्तौ कर्मण्यधिकृतावुभौ।
सहयोगस्तयोर्युक्तो न तथा ज्ञानकर्मणोः ॥१८८॥

एक कर्ताके आश्रित दो हाथ कर्ममें अधिकृत-नियुक्त होते हैं, अतएव दोनोंका सहयोग-एक साथ होकर कार्य करना उचित है, परन्तु वैसे ज्ञान और कर्मका सहयोग युक्त नहीं है ॥१८८॥

कर्त्रा कर्तुमकर्तुं वाप्यन्यथा कर्म शक्यते।
न तथा वस्तुनो ज्ञानं कर्तृतन्त्रं कदाचन ॥१८९॥

कर्ता कर्मको करने न करने अथवा विपरीत करनेमें भी समर्थ है, क्योंकि क्रिया कर्ताके अधीन होती है, परन्तु वैसे वस्तुका ज्ञान कर्ताके अधीन कदाचिद् भी नहीं होता है ॥१८९॥

यथा वस्तु तथा ज्ञानं प्रमाणेन विजायते ।
नापेक्षते च यत्किञ्चित्कर्म वा युक्तिकौशलम् ॥१९०॥

जैसी वस्तु होती है वैसा ही प्रमाणसे उसका ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः वस्तु तत्त्वज्ञान जिस किस कर्मकी अथवा युक्ति कौशल्यकी अपेक्षा नहीं रखता है ॥१९०॥

ज्ञानस्य वस्तुतन्त्रत्वे संशयाद्युदयः कथम् ।
अतो न वास्तवं ज्ञानमिति नो शंक्यतां बुधैः ॥१९१॥
प्रमाणासौष्ठववृतं संशयादि न वास्तवम् ।
श्रुतिप्रमाणसुष्ठुत्वे ज्ञानं भवति वास्तवम् ॥१९२॥

ज्ञानके वस्तु अधीन होनेपर अर्थात् जैसी वस्तु हो वैसा ही ज्ञान होनेपर संशय आदिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः ज्ञान वस्तु स्वरूपके अनुसार नहीं है, किन्तु कर्मके समान कर्ताके अधीन हैं, ऐसी शङ्का विद्वानों द्वारा नहीं करनी चाहिए । प्रमाणकी उत्तमत्ता-श्रेष्ठता न होनेसे किये गये संशय आदि वस्तु स्वरूपके अधीन नहीं हो सकते । परन्तु श्रुति प्रमाणकी श्रेष्ठताके आधारपर उत्पन्न वस्तुज्ञान वस्तुके अधीन है ।१९१-१९२॥

वस्तु तावत्परं ब्रह्म नित्यं सत्यं ध्रुवं विभुः ।
श्रुतिप्रमाणे तज्ज्ञानं स्यादेव निरपेक्षकम् ॥१९३॥

वस्तु तो नित्य, सत्य, विभु, ध्रुव पर ब्रह्म ही है । श्रुति प्रमाणके होनेपर ब्रह्मज्ञान तो निरपेक्षिक ही होगा ॥ १९३ ॥

रूपज्ञानं यथा सम्यग्दृष्टौ सत्यां भवेत्तथा ।
श्रुतिप्रमाणे सत्येव ज्ञानं भवति वास्तवम् ॥१९४॥

नेत्रकी दोषरहित सम्यग्दृष्टि होनेपर जैसे रूपका ज्ञान होता है, वैसे श्रुति प्रमाणके होनेपर ही ब्रह्मरूप वस्तुका ज्ञान होता है ॥१९४॥

न कर्म यत्किंचिदपेक्षते हि रूपोपलब्धौ पुरुषस्य चक्षुः ।
ज्ञानं तथैव श्रवणादिजन्यं वस्तुप्रकाशे निरपेक्षमेव ॥१९५॥

जैसे पुरुषके नेत्र रूपके ज्ञानमें किंचिद् भी किसी भी अन्य कर्मकी अपेक्षा नहीं करते हैं, ठीक वैसे ही वेदान्त श्रवण आदिसे जन्य ज्ञान ब्रह्मरूप वस्तुके प्रकाशनमें किसी कर्मकी अपेक्षा नहीं करता है ॥१९५॥

कर्तृतन्त्रं भवेत्कर्म कर्मतन्त्रं शुभाशुभम् ।
प्रमाणतन्त्रं विज्ञानं मायातन्त्रमिदं जगत् ॥१९६॥

कर्म कर्ताके अधीन है, शुभाशुभ फल कर्मके अधीन है । अनुभव ज्ञान वेदप्रमाणके अधीन है और यह सारा जगत् मायाके अधीन है ॥ १९६ ॥

विद्या चाविद्या चेति सहोक्तिरियमुपकृता सद्भिः ।
सत्कर्मोपासनयोर्न त्वात्मज्ञानकर्मणोः क्वापि ॥१९७॥

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' । (ईशोपनिषद् ११) विद्या और अविद्याकी यह सहोक्ति-एक साथ कथन समुच्चय सत्पुरुषोंके द्वारा सत्कर्म और उपासनामें समझना चाहिए, परन्तु कहींपर भी आत्मज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं कहा गया है अर्थात् इस श्रुतिवाक्यमें विद्याशब्दसे उपासना और अविद्याशब्दसे सत्कर्मका ग्रहण किया गया है। किसी श्रुतिमें भी विद्याशब्दसे आत्मज्ञान और अविद्याशब्दसे सत्कर्मका ग्रहणकर समुच्चयका प्रतिपादन सत्पुरुषोंने नहीं किया है । १९७ ॥

नित्यानित्यपदार्थबोधरहितो यश्चोभयत्र स्रगा-
द्यर्थानामनुभूतिलग्नहृदयो निर्विण्णबुद्धिर्जनः ।
तस्यैवास्य जडस्य कर्म विहितं श्रुत्या विरज्याभितो
मोक्षेच्छोर्न विधीयते तु परमानन्दार्थिनो धीमतः ॥१९८॥

जो मनुष्य नित्य और अनित्य पदार्थके ज्ञानसे रहित, दोनों लोकोंमें पुष्पमाला आदि पदार्थोंकी अनुभूतिमें संलग्न हृदय और वैराग्य रहित बुद्धिवाला है। उसी इस मूढमति पुरुषके लिए श्रुतिने कर्मका विधान किया है । परन्तु जो पुरुष सब ओरसे वैराग्यको प्राप्तकर परमानन्दको चाहनेवाला बुद्धिमान् मुमुक्षु है उसके लिए श्रुतिने कर्मका विधान नहीं किया है ॥ १९८ ॥

मोक्षेच्छया यदहरेव विरज्यतेऽसौ
न्यासस्तदैव विहितो विदुषो मुमुक्षोः ।
श्रुत्या तयैव परया च ततः सुधीभिः
प्रामाणिकोऽयमिति चेतसि निश्चितव्यः ॥१९९॥

मुमुक्षु विद्वान्को मोक्षकी इच्छासे जिस दिन संसारी पदार्थोंसे वैराग्य हो उसी दिन यह संन्यास ग्रहण करे, ऐसा 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् (जाबा ४) उसी परम प्रामाणरूप श्रुतिने विधान किया है । इससे विद्वानोंद्वारा अपने चित्तमें यह निश्चय करना चाहिए कि संन्यास आश्रम प्रमाणिक है ॥१९९॥

स्वापरोक्षस्य वेदादेः साधनत्वं निषेधति ।
नाहं वेदैर्न तपसेत्यादिना भगवानपि ॥२००॥

'नाहं वेदैर्न तपसा' (गीता० ११।५३) (मैं वेदोंके अध्ययनों और तपद्वारा प्राप्त नहीं होता) इत्यादिसे भगवान् श्रीकृष्ण भी आत्माके अपरोक्ष ज्ञानमें वेदादिकी साधनताका प्रतिषेध करते हैं ॥२००॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वे एते श्रुतिगोचरे।
प्रवृत्त्या बध्यते जन्तुर्निवृत्त्या तु विमुच्यते ॥२०१॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो मार्ग वेदमें वर्णन किये गये हैं। प्रवृत्ति मार्गसे मनुष्य बन्ध जाता है और निवृत्ति से मुक्त हो जाता है ॥२०१॥

यन्न स्वबन्धोऽभिमतो मूढस्यापि कचित्ततः।
निवृत्तिः कर्मसंन्यासः कर्तव्यो मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२०२॥

क्योंकि मूढ़ पुरुषको भी कहींपर अपना बन्धन अभीष्ट नहीं होता, इससे मोक्ष चाहनेवालोंसे तो कर्म संन्यासरूप निवृत्ति करनी चाहिए ॥२०२॥

न ज्ञानकर्मणोर्यस्मात्सहयोगस्तु युज्यते।
तस्मात्त्याज्यं प्रयत्नेन कर्म ज्ञानेच्छुना ध्रुवम् ॥२०३॥

क्योंकि तत्त्वज्ञान और कर्मका सहयोग तो घटता नहीं, इसलिए ज्ञानको चाहनेवाले पुरुषद्वारा निश्चय ही प्रयत्नपूर्वक कर्मका त्यागकर देना चाहिए ॥२०३॥

इष्टसाधनताबुद्ध्या गृहीतस्यापि वस्तुनः।
विज्ञाय फल्गुतां पश्चात्कः पुनस्तत्प्रतीक्षते ॥२०४॥

यह मेरे सुखका साधन है, इस प्रकारकी बुद्धिसे गृहीत वस्तुकी पश्चात् निष्फलता जानकर पुनः उस पदार्थकी कौन प्रतीक्षा करेगा? ॥२०४॥

उपरतिशब्दार्थो ह्युपरमणं पूर्वदृष्टवृत्तिभ्यः।
सोऽयं मुख्यो गौणश्चेति च वृत्त्या द्विरूपतां धत्ते ॥२०५॥

पूर्व अनुभूत प्रवृत्तियोंसे उपराम होना उपरति शब्दका अर्थ है। सो यह उपरति शब्दका अर्थ व्यवहारमें मुख्य और गौण इस भेदसे दो रूपोंको धारण करता है ॥२०५॥

वृत्तेर्दृश्यपरित्यागो मुख्यार्थ इति कथ्यते।
गौणार्थः कर्मसंन्यासः श्रुतेरङ्गतया मतः ॥२०६॥
पुंसः प्रधानसिद्ध्यर्थमङ्गस्याश्रयणं ध्रुवम्।
कर्तव्यमङ्गहीनं चेत्प्रधानं नैव सिध्यति ॥२०७॥

अन्तःकरण वृत्तिका बाह्य दृश्य पदार्थोंसे सम्बन्धका परित्याग ही उपरति शब्दका मुख्यार्थ कहा जाता है। कर्मका संन्यास उपरति शब्दका गौण अर्थ है। यह 'शान्तो दान्त उपरतः' श्रुतिमें अङ्गरूपसे अभिमत है। पुरुषको मुख्य वस्तुकी सिद्धिके लिए अङ्गका आश्रय अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यदि अङ्गहीन हो तो प्रधान कार्यकी सिद्धि नहीं होगी ॥२०६—२०७॥

संन्यसेत्सुविरक्तः सन्निहामुत्रार्थतः सुखात्।
अविरक्तस्य संन्यासो निष्फलोऽयाज्ययागवत् ॥२०८॥

इस लोक और परलोकस्थ भोग्यपदार्थोंके सुखसे पूर्णरूपेण विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करे। वैराग्यहीन पुरुषका संन्यास यज्ञके अनधिकारी द्वारा किये गये यागके समान निष्फल है ॥२०८॥

संन्यस्य तु यतिः कुर्यान्न पूर्वविषयस्मृतिम्।
तां तां तत्स्मरणे तस्य जुगुप्सा जायते यतः ॥२०९॥

संन्यास ग्रहण कर लेनेपर यति पूर्वाश्रममें भोगे हुए उस उस विषयका कदाचिदपि स्मरण न करे, क्योंकि उन भुक्त विषयोंका स्मरण करनेपर उस संन्यासीको अपनी वर्तमान अवस्थापर घृणा उत्पन्न होती है ॥२०९॥

॥ श्रद्धा ॥

गुरुवेदान्तवाक्येषु बुद्धिर्या निश्चयात्मिका।
सत्यमित्येव सा श्रद्धा निदानं मुक्तिसिद्धये ॥२१०॥

गुरु और वेदान्तवाक्योंमें 'यह सत्य ही है' ऐसी जो निश्चयात्मिका बुद्धि वह श्रद्धा है, वह मुक्तिकी सिद्धिके लिए प्रथम हेतु है ॥२१०॥

श्रद्धावतामेव सतां पुमर्थः समीरितः सिध्यति नेतरेषाम्।
उक्तं सुसूक्ष्मं परमार्थतत्त्वं श्रद्धत्स्व सोम्येति च वक्ति वेदः ॥२११॥
श्रद्धाविहीनस्य तु न प्रवृत्तिः प्रवृत्तिशून्यस्य न साध्यसिद्धिः।
अश्रद्धयैवाभिहताश्च सर्वे मज्जन्ति संसारमहासमुद्रे ॥२१२॥
देवे च वेदे च गुरौ च मन्त्रे तीर्थे महात्मन्यपि भेषजे च।
श्रद्धा भवत्यस्य यथा यथान्तस्तथा तथा सिद्धिरुदेति पुंसाम् ॥२१३॥

श्रद्धावाले सत्पुरुषोंका ही शास्त्रोक्त मोक्षरूप अर्थ सिद्ध होता है, अन्योंका नहीं। शास्त्रोक्त अतिसूक्ष्म परमार्थतत्त्वपर 'श्रद्धत्स्व सोम्येति' (छां० ६।१२।२) (हे सोम्य! श्रद्धा रख) ऐसा वेद कहता है ॥ श्रद्धाहीन पुरुषकी मोक्षके साधन श्रवण आदिमें प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें प्रवृत्ति रहितकी कार्य सिद्धि नहीं होती। अश्रद्धासे ही नष्ट हुए सब लोग संसाररूपी महासमुद्रमें डूबते हैं ॥ देव, वेद, गुरु, मन्त्र, तीर्थ, महात्मा और ओषधमें जैसी जैसी इस पुरुषके अन्तःकरणमें श्रद्धा होती है, वैसी वैसी पुरुषोंको सिद्धि उत्पन्न होती है ॥२११-२१३॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यं वस्तुसद्भावनिश्चयात्।
सद्भावनिश्चयस्तस्य श्रद्धया शास्त्रसिद्धया ॥२१४॥
तस्माच्छ्रद्धा सुसंपाद्या गुरुवेदान्तवाक्ययोः।
मुमुक्षोः श्रद्दधानस्य फलं सिध्यति नान्यथा ॥२१५॥

वस्तुके सद्भाव निश्चयसे 'ब्रह्मरूप वस्तु है' ऐसा उपलब्ध करना चाहिए। उस पुरुषका सद्भाव निश्चय शास्त्र सिद्ध-श्रद्धासे ही होता है ॥ इसलिए गुरु और वेदान्त

वाक्योंके ऊपर श्रद्धाका भली-भाँति सम्पादन करना चाहिए, क्योंकि **'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं'** (गी० ४-३९) श्रद्धावान् मुमुक्षुको ही मोक्षरूपी फल सिद्ध होता है श्रद्धारहितको नहीं ।।२१४-२१५।।

यथार्थवादिता पुंसां श्रद्धाजननकारणम् ।
वेदस्येश्वरवाक्यत्वाद्यथार्थत्वे न संशयः ।।२१६।।

पुरुषोंकी यथार्थवादिता ही श्रद्धाकी उत्पत्तिमें कारण है। क्योंकि वेद ईश्वरका वाक्य है, अतः उसके यथार्थत्वमें सन्देह नहीं है ।।२१६।।

मुक्तस्येश्वररूपत्वाद्गुरोर्वागपि तादृशी ।
तस्मात्तद्वाक्ययोः श्रद्धा सतां सिध्यति धीमताम् ।।२१७।।

मुक्त पुरुष ईश्वररूप है, **'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'** यह श्रुति है। अतः गुरुकी वाणी-वाक्य भी ईश्वरवाक्यके समान ही यथार्थ है, इसलिए बुद्धिमान् सत्पुरुषोंकी ईश्वर और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा सिद्ध होती है ।।२१७।।

।। समाधान ।।

श्रुत्युक्तार्थावगाहाय विदुषा ज्ञेयवस्तुनि ।
चित्तस्य सम्यगाधानं समाधानमितीर्यते ।।२१८।।

वेदमें कहे हुए अर्थको भली प्रकार समझनेके लिए विद्वान् द्वारा परब्रह्मरूप ज्ञेय वस्तुमें की गई जो चित्तकी भलीभाँति स्थिरता उसे समाधान कहा जाता है ।।२१८।।

चित्तस्य साध्यैकपरत्वमेव पुमर्थसिद्धेर्नियमेन कारणम् ।
नैवान्यथा सिध्यति साध्यमीषन्मनःप्रमादे विफलः प्रयत्नः ।।२१९।।

चित्तकी साध्यमात्र परायणता ही पुरुषार्थ सिद्धिमें नियमसे कारण है, अन्यथा साध्यकी सिद्धि नहीं होती। यदि मनका किञ्चिद् भी प्रमाद हो तो प्रयत्न निष्फल है ।।

चित्तं च दृष्टिं करणं तथाऽन्यदेकत्र बध्नाति हि लक्ष्यभेत्ता ।
किंचित्प्रमादे सति लक्ष्यभेत्तुर्बाणप्रयोगो विफलो यथा तथा ।।२२०।।

लक्ष्यका भेदन करनेवाला जैसे चित्त, दृष्टि और इन्द्रियको एक ही लक्ष्यमें निश्चित रूपसे बांधता-एकाग्र करता है, लक्ष्य भेदन करनेवालेका किञ्चिद् भी प्रसाद-असावधानी होनेपर बाणका प्रयोग निष्फल होता है ।।२२०।।

सिद्धेश्चित्तसमाधानमसाधारणकारणम् ।
यतस्ततो मुमुक्षूणां भवितव्यं सदाऽमुना ।।२२१।।
अत्यन्ततीव्रवैराग्यं फललिप्सा महत्तरा ।
तदेतदुभयं विद्यात्समाधानस्य कारणम् ।।२२२।।

वैसे ही चित्तकी एकाग्रता साध्यकी सिद्धिमें मुख्य कारण है, इससे मुमुक्षुको सर्वदा चित्तकी एकाग्रता होनी चाहिए ।। अत्यन्त तीव्र वैराग्य और मोक्षरूप फल पानेकी प्रबल इच्छा, ये दोनों चित्तकी एकाग्रताका कारण जाने ।।२२१-२२२।।

बहिरङ्गं श्रुतिः प्राह ब्रह्मचर्यादिमुक्तये ।
शमादिषट्कमेवैतदन्तरङ्गं विदुर्बुधाः ।।२२३।।
अन्तरङ्गं हि बलवद्बहिरङ्गाद्यतस्ततः ।
शमादिषट्कं जिज्ञासोरवश्यं भाव्यमान्तरम् ।।२२४।।

श्रुति कहती है कि ब्रह्मचर्य आदि मुक्तिके लिए बहिरङ्ग साधन हैं और इन शम आदि छः को विद्वान् लोग अन्तरङ्ग-निकट साधन जानते हैं, क्योंकि अन्तरङ्ग साधन बहिरङ्ग साधनसे बलवान् होता है, इससे जिज्ञासुमें शम आदि छः अन्तरङ्ग साधन अवश्य होने चाहिए ।।२२३-२२४।।

अन्तरङ्गविहीनस्य कृतश्रवणकोटयः ।
न फलन्ति यथा योद्धुरधीरस्यास्त्रसंपदः ।।२२५।।

जैसे धैर्यहीन योद्धाकी अस्त्रशस्त्ररूप सम्पत् निष्फल होती हैं, वैसे ही अन्तङ्ग साधन रहित मुमुक्षुके कोटिवार किये गये वेदान्त श्रवण भी निष्फल हैं ।।२२५।।

।। मुमुक्षुता ।।

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्यद्विद्वान्मोक्तुमिच्छति ।
संसारपाशबन्धं तन्मुमुक्षुत्वं निगद्यते ।।२२६।।

जो विद्वान् पुरुष 'ब्रह्म और जीवात्मा एक है' ऐसे अनुभवसे संसाररूपी फाँसीके बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, वही मुमुक्षुता है ।।२२६।।

साधनानां तु सर्वेषां मुमुक्षा मूलकारणम् ।
अनिच्छोरप्रवृत्तस्य क्व श्रुतिः क्व नु तत्फलम् ।।२२७।।

मुमुक्षा ही सब साधनोंका मूल कारण है । जिसे मोक्ष पानेकी इच्छा न हो तो उसकी मोक्षके साधनोंमें प्रवृत्ति भी नहीं होती, इससे उसका वेदान्त श्रवण कहाँ ? और मोक्षरूप फल कहाँ ? अर्थात् दोनों निष्फल हैं ।।२२७।।

तीव्रमध्यममन्दातिमन्दभेदाच्चतुर्विधा ।
मुमुक्षा तत्प्रकारोऽपि कीर्त्यते श्रूयतां बुधैः ।।२२८।।

तीव्र, मध्यम, मन्द, अतिमन्द भेदसे मुमुक्षा चार प्रकारकी है । उसका प्रकार कहा जाता है, विद्वान् लोग उसे सुनें ।।२२८।।

तापैस्त्रिभिर्नित्यमनेकरूपैः संतप्यमानः क्षुभितान्तरात्मा ।
परिग्रहं सर्वमनर्थबुद्ध्या जहाति सा तीव्रतरा मुमुक्षा ।।२२९।।

अनेकरूपवाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविकरूप तीन तापोंसे नित्य

संतप्यमान अत्यन्त व्याकुल चित्त पुरुष अनर्थबुद्धिसे जो सब परिग्रहका परित्याग करता है, वह तीव्रतर मुमुक्षा है ॥२२९॥

तापत्रयं तीव्रमवेक्ष्य वस्तु दृष्ट्वा कलत्रतनयान्विहातुम् ।
मध्ये द्वयोर्लोडनमात्मनो यत्सैषा मता माध्यमिकी मुमुक्षा ॥२३०॥

तीव्र ताप त्रयको देखकर और परम वस्तुका अनुभवकर स्त्री एवं पुत्रोंके त्यागके लिए दोनोंके मध्यमें जो चित्तका डोलना वही मध्यम मुमुक्षा मानी गई है ॥२३०॥

मोक्षस्य कालोऽस्ति किमद्य मे त्वरा भुक्त्वैव भोगान्कृतसर्वकार्यः ।
मुक्त्यै यतिष्येऽहमथेति बुद्धिरेषैव मन्दा कथिता मुमुक्षा ॥२३१॥

मोक्ष प्राप्तिके लिए तो बहुत समय पड़ा है मुझे इतनी जल्दी क्या है । भोगोंको भोगकर और सब कार्य पूरे कर अनन्तर मैं मुक्तिके लिए यत्न करूँगा, इसप्रकारकी यह बुद्धि ही मन्द मुमुक्षा कही गई है ॥२३१॥

मार्गे प्रयातुर्मणिलाभवन्मे लभेत मोक्षो यदि तर्हि धन्यः ।
इत्याशया मूढधियां मतिर्या सैषातिमन्दाभिमता मुमुक्षा ॥२३२॥

मार्गमें जाते हुए पुरुषको जैसे मणि प्राप्त हो वैसे मुझे यदि मोक्ष प्राप्त हो जाय तो मैं धन्य हो जाऊँ । इसी आशासे मूढबुद्धिवालोंकी जो मति है, वही अतिमन्द मुमुक्षा मानी गई है ॥२३२॥

जन्मानेकसहस्रेषु तपसाऽऽराधितेश्वरः ।
तेन निःशेषनिर्धूतहृदयस्थितकल्मषः ॥२३३॥
शास्त्रविद्गुणदोषज्ञो भोग्यमात्रे विनिःस्पृहः ।
नित्यानित्यपदार्थज्ञो मुक्तिकामो दृढव्रतः ॥२३४॥
निष्टप्तमग्निना पात्रमुद्वास्य त्वरया यथा ।
जहाति गेहं तद्वच्च तीव्रमोक्षेच्छया द्विजः ॥२३५॥

अनेक सहस्र जन्मोंमें जिस पुरुषने तपसे ईश्वरका आराधन किया है, उस ईश्वर आराधनसे हृदयस्थ सम्पूर्ण कल्मष नष्ट किये गये हैं, ऐसा शास्त्रवेत्ता, गुण-दोषको जाननेवाला, भोग्य पदार्थमें निस्पृह, नित्य एवं अनित्य वस्तुको जाननेवाला मुक्ति-कामनावाला, दृढव्रत पुरुष अग्निसे अत्यन्त तपे पात्रको उठाकर जैसे अतिशीघ्र छोड़ देता है, वैसे तीव्र मोक्ष इच्छासे द्विज गृहका त्यागकर देता है ॥२३३-२३५॥

स एव सद्यस्तरति संसृतिं गुर्वनुग्रहात् ।
यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात्स जीवन्नेव मुच्यते ॥२३६॥
जन्मान्तरे मध्यमस्तु तदन्यस्तु युगान्तरे ।
चतुर्थः कल्पकोट्यां वा नैव बन्धाद्विमुच्यते ॥२३७॥

वही पुरुष गुरुकी कृपासे अतिशीघ्र संसारको तर जाता है, जो तीव्र मुमुक्षु हो

वह तो जीवित ही मुक्त हो जाता है। परन्तु मध्यम मुमुक्षावाला अन्य जन्ममें और मन्दमुमुक्षावाला अन्य युगमें मुक्त हो जाता है। किन्तु अतिमन्द मुमुक्षावाला तो कोटि-कल्पोंमें भी संसार बन्धनसे मुक्त नहीं होता ॥२३६-२३७॥

नृजन्म जन्तोरतिदुर्लभं विदुस्ततोऽपि पुंस्त्वं च ततो विवेकः।
लब्ध्वा तदेतत्त्रितयं महात्मा यतेत मुक्त्यै सहसा विरक्तः ॥२३८॥

प्राणीको मनुष्य जन्म अतिदुर्लभ है उससे भी पुरुषत्व और पुरुषत्वसे भी नित्यानित्यवस्तुका विवेक अतिदुर्लभ है, ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं, इन तीनोंको प्राप्तकर महात्मा सहसा विरक्त होकर मुक्तिके लिए यत्न करे ॥२३८॥

पुत्रमित्रकलत्रादिसुखं जन्मनि जन्मनि।
मर्त्यत्वं पुरुषत्वं च विवेकश्च न लभ्यते ॥२३९॥

पुत्र, मित्र, स्त्री आदिका सुख तो जन्म-जन्ममें प्राप्त होता है, परन्तु मनुष्यत्व, पुरुषत्व और विवेक प्राप्त नहीं होते हैं ॥२३९॥

लब्ध्वा सुदुर्लभतरं नरजन्म जन्तुस्तत्रापि पौरुषमतः सदसद्विवेकम्।
संप्राप्य चैहिकसुखाभिरतो यदि स्याद्धिक्तस्य जन्म कुमतेः पुरुषाधमस्य ॥२४०॥

प्राणी अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर उसमें भी पुरुषत्व उससे भी अतिदुर्लभ सदसद्विवेक अच्छी तरह प्राप्तकर यदि इस लौकिक विषय सुखमें अभिरत है तो उस कुमति पुरुषाधमके जन्मको धिक्कार है ॥२४०॥

खादते मोदते नित्यं शुनकः सूकरः खरः।
तेषामेषां विशेषः को वृत्तिर्येषां तु तैः समा ॥२४१॥

कुत्ता, सुअर और गधा नित्य खाते हैं और आनन्द पाते हैं, परन्तु जिन मनुष्योंका व्यवहार कुत्ता आदिके समान है, तो पुनः उन कूकर, शूकर आदि और इन मनुष्योंमें भेद ही क्या है? **'अहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नाराणाम्। ज्ञानं नाराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाःपशुभिःसमानाः'** ॥११। ॥२४१॥

यावन्नाश्रयते रोगो यावन्नाक्रमते जरा।
यावन्न धीर्विपर्येति यावन्मृत्युं न पश्यति ॥२४२॥
तावदेव नरः स्वस्थः सारग्रहणतत्परः।
विवेकी प्रयतेताशु भवबन्धविमुक्तये ॥२४३॥

जब तक रोगने शरीरको नहीं पकड़ा है, जब तक वृद्धावस्था नही घेरती, जब तक बुद्धि विपरीत नहीं होती, जब तक मृत्युको नहीं देखता, तबतक ही सारवस्तुके ग्रहणमें तत्पर स्वस्थ विवेकी मनुष्य संसार बन्धनसे मुक्त होनेके लिए अतिशीघ्र प्रयत्न करे ॥

देवर्षिपितृमर्त्यर्णबन्धमुक्तास्तु कोटिशः।
भवबन्धविमुक्तस्तु यः कश्चिद्ब्रह्मवित्तमः ॥२४४॥

देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण और मनुष्यऋणरूपी बन्धनसे तो करोड़ों पुरुष मुक्त होते हैं, परन्तु संसाररूपी बन्धनसे मुक्त तो कोई एक ब्रह्मवित्तम पुरुष ही होता है ॥२४४॥

अन्तर्बन्धेन बद्धस्य किं बहिर्बन्धमोचनैः ।
तदन्तर्बन्धमुक्त्यर्थं क्रियतां कृतिभिः कृतिः ॥२४५॥

काम, क्रोध आदि आन्तर बन्धनोंसे बद्ध पुरुषको गृह आदि बाहरके बन्धनोंसे मुक्त होनेसे क्या लाभ है? इसलिए आन्तर बन्धनोंकी मुक्तिके लिए विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिए ॥२४५॥

कृतिपर्यवसानैव मता तीव्रमुमुक्षुता ।
अन्या तु रञ्जनामात्रा यत्र नो दृश्यते कृतिः ॥२४६॥

मोक्ष पर्यवसानवाला प्रयत्न ही तीव्र मुमुक्षुता माना गया है। जिस मुमुक्षुतामें तदनुसार प्रयत्न नहीं दीखता, वह पूर्वसे भिन्न केवल रञ्जनमात्र है ॥२४६॥

गेहादिसर्वमपहाय लघुत्वबुद्ध्या सौख्येच्छया स्वपतिनानलमाविविक्षोः ।
कान्ताजनस्य नियता सुदृढा त्वराया सैषा फलान्तगमने करणं मुमुक्षोः ॥२४७॥

'पतिके विना' ये अत्यन्त तुच्छ हैं, ऐसी बुद्धिसे घर आदि सब पदार्थोंका त्यागकर परलोकमें अपने पतिके साथ सुख भोगनेकी इच्छासे अग्निमें प्रवेश करनेकी इच्छावाली पतिव्रता स्त्रीकी जो नियत सुदृढ़ अतिशीघ्रता है, वह मुमुक्षुकी ऐसी नियत सुदृढ़ अतिशीघ्रता मोक्षरूप अन्तिम फल पानेमें कारण होती है ॥२४७॥

नित्यानित्यविवेकश्च देहक्षणिकतामतिः ।
मृत्योर्भीतिश्च तापश्च मुमुक्षावृद्धिकारणम् ॥२४८॥

नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक, देह क्षणभंगुर है ऐसी बुद्धि, मृत्युभय और आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक ये तीन ताप मुमुक्षाकी वृद्धिमें कारण हैं ॥

शिरो विवेकस्त्वत्यन्तं वैराग्यं वपुरुच्यते ।
शमादयः षडङ्गानि मोक्षेच्छा प्राण इष्यते ॥२४९॥
ईदृशाङ्गसमायुक्तो जिज्ञासुर्युक्तिकोविदः ।
शूरो मृत्युं निहन्त्येव सम्यग्ज्ञानासिना ध्रुवम् ॥२५०॥

नित्यानित्य वस्तुका विवेक मुमुक्षुका शिर है, अत्यन्त वैराग्य शरीर कहा जाता है, शम आदि षट् हाथ पैर आदि अङ्ग हैं, मोक्षेच्छा प्राण कहे जाते हैं। ऐसे अङ्गोंसे युक्त मुमुक्षु तर्ककुशल शूर पुरुष सम्यग्ज्ञानरूपी तलवारसे मृत्युको अवश्य ही नष्ट करता है ॥

॥ गुरु शरण ॥

उक्तसाधनसंपन्नो जिज्ञासुर्यतिरात्मनः ।
जिज्ञासायै गुरुं गच्छेत्समित्पाणिर्नयोज्ज्वलः ॥२५१॥

विवेक, वैराग्य आदि उक्त साधन सम्पन्न यत्नशील जिज्ञासु आत्मस्वरूपकी जिज्ञासाके लिए विनयसे उज्ज्वल होता हुआ हाथमें समिधा लेकर गुरुकी शरणमें जाय । **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** (मु० १।२२) ॥२५१॥

॥ गुरुके लक्षण ॥

श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो यः प्रशान्तः समदर्शनः ।
निर्ममो निरहङ्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥२५२॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः करुणामृतसागरः ।
एवंलक्षणसंपन्नः स गुरुर्ब्रह्मवित्तमः ।
उपासाद्यः प्रयत्नेन जिज्ञासोः स्वार्थसिद्धये ॥२५३॥

जो श्रोत्रिय आचार्यसे अङ्गों सहित वेदोंका अध्ययन करनेवाला, ब्रह्मनिष्ठ, अत्यन्त शान्त स्वभाव, सब प्राणियोंमें समान दृष्टि रखनेवाला, ममतारहित, अहङ्कार शून्य, शीत, उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्दोंका सहन करनेवाला, परिग्रह रहित, किसीको भी अपेक्षारहित, अन्दर-बाहरसे पवित्र, चतुर, दयारूपी अमृतका सागर, इसप्रकारके लक्षणोंसे सम्पन्न जो ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है वह गुरु जिज्ञासुको साध्यसिद्धिके लिए प्रयत्नपूर्वक शरण लेने योग्य है ॥२५२-२५३॥

जन्मानेकशतैः सदाऽऽदरयुजा भक्त्या समाराधितो
भक्तैर्वैदिकलक्षणेन विधिना संतुष्ट ईशः स्वयम् ।
साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन्प्रभुः
तत्त्वं साधु विबोध्य तारयति तान्संसारदुःखार्णवात् ॥२५४॥

अनेक सैकड़ों जन्मोंमें भक्तजनोंसे सदा आदर सहित भक्ति द्वारा वेदविहित विधिसे अच्छी तरह आराधित हुआ जब स्वयं ईश्वर प्रसन्न होता है तब साक्षात् श्रीगुरुरूपको प्राप्त होकर नेत्रोंके सामने आता हुआ कृपा करके आत्माके यथार्थ स्वरूपको भली-भाँति समझाकर संसाररूपी दुःखार्णवसे उन भक्तोंको तार देते हैं मुक्त कर देते हैं ॥२५४॥

अविद्याहृदयग्रन्थिविमोक्षोऽपि भवेद्यतः ।
तमेव गुरुरित्याहुर्गुरुशब्दार्थवेदिनः ॥२५५॥
शिव एव गुरुः साक्षात् गुरुरेव शिवः स्वयम् ।
उभयोरन्तरं किञ्चिन्न द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥२५६॥

'गुरु' शब्दके अर्थको जाननेवाले अविद्यारूपी हृदय ग्रन्थि बन्धकी जिससे मुक्ति हो उसीको गुरु कहते हैं ॥ शिव ही साक्षात् गुरु है, गुरु ही साक्षात् शिव है, मुमुक्षुओं द्वारा दोनोंमें किञ्चिद् भी अन्तर नहीं देखना चाहिए ॥२५५-२५६॥

बन्धमुक्तं ब्रह्मनिष्ठं कृतकृत्यं भजेद्गुरुम् ।
यस्य प्रसादात्संसारसागरो गोष्पदायते ॥२५७॥

शुश्रूषया सदा भक्त्या प्रणामैर्विनयोक्तिभिः ।
प्रसन्नं गुरुमासाद्य प्रष्टव्यं ज्ञेयमात्मनः ॥२५८॥

संसार बन्धनसे मुक्त ब्रह्मनिष्ठ कृतकृत्य गुरु का सेवन करो जिसके अनुग्रहसे संसार-सागर गोपदके समान हो जाता है ॥ नित्य सेवा, भक्ति, प्रणाम और विनययुक्त वचनोंके द्वारा प्रसन्न हुए गुरुके पास जाकर अपना जानने योग्य पूछना चाहिए ॥ २५७-२५८ ॥

भगवन्करुणासिन्धो भवसिन्धोर्भवांस्तरिः ।
यमाश्रित्याश्रमेणैव परं पारं गता बुधाः ॥२५९॥
जन्मान्तरकृतानन्तपुण्यकर्मफलोदयः ।
अद्य संनिहितो यस्मात्त्वत्कृपापात्रमस्म्यहम् ॥२६०॥

हे भगवन् ! हे कृपाके सागर ! आप संसाररूप सागरमें नौकारूप हैं, जिसका आश्रय लेकर विना परिश्रमके ही विद्वान् लोग पार को गये हैं ॥ आज पूर्व जन्ममें किये गये अनन्त पुण्य कर्मों का फलोदय सन्निहित हुआ है, जिससे मैं आपकी कृपाका पात्र हुआ हूँ ॥ २५९-२६० ॥

संप्रीतिमक्ष्णोर्वदनप्रसादमानन्दमन्तःकरणस्य सद्यः ।
विलोकनं ब्रह्मविदस्तनोति छिनत्ति मोहं सुगतिं व्यनक्ति ॥२६१॥

आप जैसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष का दर्शन दोनों नेत्रोंमें भली प्रकार प्रीतिको, मुखके प्रसन्नभावको और हृदयके आनन्दको तत्काल ही बढ़ाता है । मोहको नष्ट करता है और सद्गतिको प्रकट करता है । २६१ ॥

हुताशनानां शशिनामिनानामप्यर्बुदं वापि न यन्निहन्तुम् ।
शक्नोति तद्ध्वान्तमनन्तमान्तरं हन्त्यात्मवेत्ता सकृदीक्षणेन ॥२६२॥

सौ करोड़ अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य मिलकर भी जिसको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होते, हृदयके आन्तर उस अनन्त अज्ञान अन्धकारको आत्मवेत्ता एक वार देखनेसे ही नष्ट कर देता है ॥२६२॥

दुष्पारे भवसागरे जनिमृतिव्याध्यादिदुःखोत्कटे
घोरे पुत्रकलत्रमित्रबहुलग्राहाकरे भीकरे ।
कर्मोत्तुङ्गतरङ्गभङ्गनिकरैराकृष्यमाणो मुहुः
यातायातगतिभ्रमेण शरणं किञ्चिन्न पश्याम्यहम् ॥२६३॥

संसाररूप सागरका पार पाना कठिन है, क्योंकि जन्म, मरण, व्याधि आदि उत्कट दुःखोंसे पूर्ण है, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि अनेक ग्राह-मगरका खान हैं, ऐसे भयानक घोर संसार सागरमें कर्मरूपी ऊँची तरङ्गोंके अनेकों उच्छालोंसे वार वार आकृष्यमाण, इस लोक तथा परलोकके मार्गमें आने जानेके समय होनेवाली भ्रान्तिसे युक्त मैं किञ्चिद् भी शरण-अवलम्बन नहीं देखता हूँ ॥ २६३ ॥

केन वा पुण्यशेषेण तव पादाम्बुजद्वयम् ।
दृष्टवानस्मि मामार्तं मृत्योस्त्राहि दयादृशा ॥२६४॥

हे गुरो ! न जाने, किसी बचे हुए पुण्यके प्रभावसे आपके दोनों चरण कमलोंको देखनेवाला हो सका हूँ, अतः संसार दुःखोंसे पीड़ित मेरी दयादृष्टि कर मृत्युसे रक्षा कीजिये ॥ २६४ ॥

वदन्तमेवं तं शिष्यं दृष्ट्वैव दयया गुरुः ।
दद्यादभयमेतस्मै मा भैष्टेति मुहुर्मुहुः ॥२६५॥

इसप्रकार कहते हुए उस शिष्यको गुरु दया से देखकर 'भय न कर' ऐसा वार वार कहकर उसको अभय दे ॥ २६५ ॥

॥ गुरुका अमरवचन ॥

विद्वन्मृत्युभयं जहीति भवतो नास्त्येव मृत्युः क्वचि-
न्नित्यस्य द्वयवर्जितस्य परमानन्दात्मनो ब्रह्मणः ।
भ्रान्त्या किञ्चिदवेक्ष्य भीतमनसा मिथ्या त्वया कथ्यते
मां त्राहीति हि सुप्तवत्प्रलपनं शून्यात्मकं ते मृषा ॥२६६॥

हे विद्वन् ! तुम मृत्युभयको छोड़ दो, आपकी कहींपर भी मृत्यु नहीं है, नित्य अद्वितीय परमानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भ्रमसे कुछ देखकर भयभीत मन से 'मां त्राहि' ऐसा तुमसे मिथ्या कहा जाता है, सोये हुए के समान तेरा यह प्रलाप मिथ्या और अर्थहीन है ॥२६६॥

निद्रागाढतमोवृत्तः किल जनः स्वप्ने भुजङ्गादिना
ग्रस्तं स्वं ममवेक्ष्य यत्प्रलपति त्रासाद्धतोऽस्मीत्यलम् ।
आप्तेन प्रतिबोधितः करतलेनाताड्य पृष्टः स्वयं
किञ्चिन्नेति वदत्यमुष्य वचनं स्यात्तत्किमर्थं वद ॥२६७॥

निश्चय ही निद्रारूप गाढ़ अन्धकारसे आवृत पुरुष स्वप्नमें अपनेको सर्प आदिसे ग्रस्त देखकर भयसे 'मारा गया' ऐसे ऊँचे स्वरसे जो प्रलाप करता है, सुप्त व्यक्तिकी ऐसी दशा देखकर जाग्रत विश्वस्त पुरुषके द्वारा करतल से ताड़नकर जगाया हुआ पूछा गया कि 'मारा गया, मारा गया' यह कैसे कहा, तब स्वयं ही कहता है कि कुछ नहीं है, उसका यह वचन किसलिए है, बोलो ! अर्थात् जैसे उसका कथन निष्फल है वैसे ही आपका भी ॥२६७॥

रज्जोस्तु तत्त्वमनवेक्ष्य गृहीतसर्पभावः पुमानयमहिर्वसतीति मोहात् ।
आक्रोशति प्रतिबिभेति च कम्पतेतन्मिथ्यैव नात्र भुजगोऽस्ति विचार्यमाणे ॥
तद्वत्त्वयाप्यात्मन उक्तमेतज्जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःखम् ।
मृषैव सर्वं भ्रमकल्पितं ते सम्यग्विचार्यात्मनि मुञ्च भीतिम् ॥२६९॥

यह मनुष्य रस्सीके स्वरूपको न जानकर उसमें सर्पभाव गृहीत कर यहाँ सर्प रहता है, इसप्रकार मोहसे चिल्लाता है भयभीत होता है, और काँपता भी है। परन्तु यहाँ सर्प नहीं है, ऐसा विचार करनेपर यह मिथ्या ही है, ऐसा निश्चय होता है॥ वैसे ही तुमने भी आत्मामें उक्त यह जन्म, मरण, व्याधि-जरा आदि दुःख कहा है वह सब तेरे भ्रमसे कल्पित मिथ्या ही हैं। सम्यक् विचार कर आत्मामें उत्पन्न भयको छोड़ दे॥२६९॥

भवाननात्मनो धर्मानात्मन्यारोप्य शोचति।
तदज्ञानकृतं सर्वं भयं त्यक्त्वा सुखी भव॥२७०॥

अनात्म-देह आदिके धर्मोंको आत्मामें आरोपकर आप शोक करते हैं, अतः अज्ञानजन्य सब भयका त्यागकर तुम सुखी हो॥ २७०॥

शिष्य :—

श्रीमद्भिरुक्तं सकलं मृषेति दृष्टान्त एव ह्युपपद्यते तत्।
दार्ष्टान्तिके नैव भवादिदुःखं प्रत्यक्षतः सर्वजनप्रसिद्धम्॥२७१॥

यह सब मिथ्या है ऐसा जो आपने कहा है, वह तो रज्जु सर्प दृष्टान्तमें भली प्रकार उपपन्न होता है, किन्तु दार्ष्टान्तिकमें नहीं घटता, क्योंकि जन्म आदि दुःख प्रत्यक्ष प्रमाणसे सर्व जन प्रसिद्ध हैं॥ २७१॥

प्रत्यक्षेणानुभूतार्थः कथं मिथ्यात्वमर्हति।
चक्षुषो विषयं कुम्भं कथं मिथ्या करोम्यहम्॥२७२॥
विद्यमानस्य मिथ्यात्वं कथं नु घटते प्रभो।
प्रत्यक्षं खलु सर्वेषां प्रमाणं प्रस्फुटार्थकम्॥२७३॥
मर्त्यस्य मम जन्मादिदुःखभाजोऽल्पजीविनः।
ब्रह्मत्वमपि नित्यत्वं परमानन्दता कथम्॥२७४॥

प्रत्यक्ष प्रमाणसे अनुभूत पदार्थ मिथ्या कैसे हो सकता है? नेत्र इन्द्रियके विषयघटको मैं मिथ्या कैसे कर सकता हूँ॥ हे प्रभो! विद्यमान वस्तुमें मिथ्यात्व कैसे घटता है? प्रत्यक्ष तो सबके लिए स्पष्ट अर्थवाला प्रमाण है॥ मरण धर्मवाला, जन्मादि दुःखोंका भागी, अल्पजीवी मैं भला नित्य परमानन्द स्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ?॥२७२-२७४॥

क आत्मा कस्त्वनात्मा च किमु लक्षणमेतयोः।
आत्मन्यनात्मधर्माणामारोपः क्रियते कथम्॥२७५॥

आत्मा कौन है और अनात्मा कौन है? इन दोनोंका लक्षण क्या है? आत्मामें अनात्म पदार्थके धर्मोंका आरोप कैसे किया जाता है?॥२७५॥

किमज्ञानं तदुत्पन्नभयत्यागोऽपि वा कथम्।
किमु ज्ञानं तदुत्पन्नसुखप्राप्तिश्च वा कथम्॥२७६॥

अज्ञान क्या है और उससे उत्पन्न भयका त्याग कैसे होता है ? ज्ञान क्या है और उससे उत्पन्न सुखकी प्राप्ति कैसे होती है ? ॥२७६॥

सर्वमेतद्यथापूर्वं करामलकवत्स्फुटम् ।
प्रतिपादय मे स्वामिन् श्रीगुरो करुणानिधे ॥२७७॥

हे स्वामिन् ! हे करुणानिधि गुरुदेव ! यह सब यथाक्रमसे हाथमें धरे हुए आँवलेके समान स्पष्टरूपसे मेरे प्रति वर्णन कीजिए ॥ २७७ ॥

श्रीगुरु :—

धन्यः कृतार्थस्त्वमहो विवेकः शिवप्रसादस्तव विद्यते महान् ।
विसृज्य तु प्राकृतलोकमार्गं ब्रह्मावगन्तुं यतसे यतस्त्वम् ॥२७८॥

अहो ! तू धन्य है, कृतार्थ है, तुम्हारा विवेक अद्भुत है, तुझपर शिव भगवान्का महान् अनुग्रह है, क्योंकि तुम साधारण लोगोंका मार्ग छोड़कर ब्रह्मको जाननेके लिए यत्न करते हो ॥२७८॥

शिवप्रसादेन विना न सिद्धिः शिवप्रसादेन विना न बुद्धिः ।
शिवप्रसादेन विना न युक्तिः शिवप्रसादेन विना न मुक्तिः ॥२७९॥

भगवान् शङ्करकी कृपाके बिना सफलता नहीं होती, शिवके अनुग्रहके बिना ज्ञान नहीं होता, 'ज्ञानमुत्पद्यते महेश्वरात्' शिवप्रसादके बिना युक्ति (योग) नहीं होती और शिवके प्रसाद बिना मुक्ति नहीं होती ॥ २७९ ॥

यस्य प्रसादेन विमुक्तसङ्गाः शुकादयः संसृतिबन्धमुक्ताः ।
तस्य प्रसादो बहुजन्मलभ्यो भक्त्यैकगम्यो भवमुक्तिहेतुः ॥२८०॥

जिसके अनुग्रहसे शुक आदि संसारकी आसक्तिसे मुक्त होते हुए संसार-बन्धनसे मुक्त हो गये हैं, उसका अनुग्रह अनेक जन्मोंमें प्राप्तिके योग्य एक भक्तिमात्र गम्य और संसारसे मुक्तिका हेतु है ॥२८०॥

विवेको जन्तूनां प्रभवति जनिष्वेव बहुषु
प्रसादादेवेशाद्बहुसुकृतपाकोदयवशात् ।
यतस्तस्मादेव त्वमपि परमार्थावगमने
कृतारम्भः पुंसामिदमिह विवेकस्य तु फलम् ॥२८१॥

अनेक पुण्योंके फलोदय होनेसे ईश्वरके अनुग्रहसे प्राणियोंको अनेक जन्मोंमें सदसद्-वस्तुका विवेक उत्पन्न होता है, क्योंकि इससे तू भी परमार्थ वस्तुके जाननेमें उद्योगी हुआ है । इस लोकमें पुरुषोंको विवेकका यही फल है ॥२८१॥

मर्त्यत्वसिद्धेरपि पुंस्त्वसिद्धेर्विप्रत्वसिद्धेश्च विवेकसिद्धेः ।
वदन्ति मुख्यं फलमेव मोक्षं व्यर्थं समस्तं यदि चेन्न मोक्षः ॥२८२॥

विद्वान् कहते हैं कि मनुष्य शरीरकी प्राप्ति उससे पुरुषत्वकी प्राप्ति, पुरुषत्वसे भी

ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति और उससे भी पुनः नित्यानित्य वस्तुका विवेक प्राप्त हो, इनकी प्राप्तिका मुख्यफल मोक्ष ही है, यदि मोक्ष न हुआ तो यह सब व्यर्थ हैं ॥ २८२ ॥

प्रश्नः समीचीनतरस्तवायं यदात्मतत्त्वावगमे प्रवृत्तिः ।
ततस्तवैतत्सकलं समूलं निवेदयिष्यामि मुदा शृणुष्व ॥२८३॥

तेरा यह प्रश्न अतिशय उत्तम है, जो कि आत्मतत्त्वके जाननेमें तेरी प्रवृत्ति है। इससे तुमको समूल यह सब समझाऊँगा, प्रसन्नताके साथ तुम सुनो ॥ २८३ ॥

मर्त्यत्वं त्वयि कल्पितं भ्रमवशात्तेनैव जन्मादयः
तत्संभावितमेव दुःखमपि ते नो वस्तुतस्तन्मृषा ।
निद्रामोहवशादुपागतसुखं दुःखं च किं नु त्वया
सत्यत्वेन विलोकितं क्वचिदपि ब्रूहि प्रबोधागमे ॥२८४॥

भ्रमवश तुममें यह मनुष्यत्व कल्पित है, इससे जन्मादि और उससे उत्पन्न दुःख भी, वस्तुतः यह सब तुझमें नहीं है, कारण कि यह सब मिथ्या है। निद्रारूपी मोहवश प्राप्त सुख और दुःख जागनेपर कहीं भी सत्यरूपसे तुमने देखे हैं ? बताओ ? ॥२८४॥

नाशेषलोकैरनुभूयमानः प्रत्यक्षतोऽयं सकलप्रपञ्चः ।
कथं मृषा स्यादिति शङ्कनीयं विचारशून्येन विमुह्यता त्वया ॥२८५॥
दिवान्धदृष्टेस्तु दिवान्धकारः प्रत्यक्षसिद्धोऽपि स किं यथार्थः ।
तद्वद्भ्रमेणावगतः पदार्थो भ्रान्तस्य सत्यः सुमतेर्मृषैव ॥२८६॥

सब लोगों द्वारा प्रत्यक्षरूपसे अनुभूयमान यह सारा प्रपञ्च कैसे मिथ्या होगा ? विचार रहित विमोहित तुमसे ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ दिनमें अन्धदृष्टिवाले पुरुषको दिनका अन्धकार प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होते भी क्या वह यथार्थ है ? वैसे ही भ्रमसे अवगत पदार्थ भ्रान्त पुरुषको सत्य प्रतीत होता है किन्तु बुद्धिमानको मृषा ही प्रतीत होता है ॥२८५-२८६॥

घटोऽयमित्यत्र घटाभिधानः प्रत्यक्षतः कश्चिदुदेति दृष्टेः ।
विचार्यमाणे स तु नास्ति तत्र मृदस्ति तद्भावविलक्षणा सा ॥२८७॥

यहाँ 'यह घट है' प्रत्यक्ष दृष्टिसे 'घट' इस नामवाला कोई पदार्थ अथवा कोई एक 'घट बुद्धि' उत्पन्न होती है। किन्तु विचार करने पर वह घट वहाँ नहीं है, प्रत्युत घट-भावसे विलक्षण वह मृत्तिका ही है ॥ २८७ ॥

प्रादेशमात्रः परिदृश्यतेऽर्कः शास्त्रेण संदर्शितलक्षयोजनः ।
मानान्तरेण क्वचिदेति बाधां प्रत्यक्षमप्यत्र हि न व्यवस्था ॥२८८॥

सूर्य बिलस्तभर दिखाई देता है, परन्तु शास्त्रसे तो लाख योजन बताया गया है। किन्तु प्रमाणान्तर से कहींपर बाधाको प्राप्त होता है अर्थात् बाधित हो जाता है, यहाँ

प्रत्यक्ष प्रमाण कभी व्यवस्था करानेवाला नहीं है ।। २८८ ।।

तस्मात्त्वयीदं भ्रमतः प्रतीतं मृषैव नो सत्यमवेहि साक्षात् ।
ब्रह्म त्वमेवासि सुखस्वरूपं त्वत्तो न भिन्नं विचिनुष्व बुद्धौ ।।२८९।।
लोकान्तरे वात्र गुहान्तरे वा तीर्थान्तरे कर्मपरम्परान्तरे ।
शास्त्रान्तरे नास्त्यनुपश्यतामिह स्वयं परं ब्रह्म विचार्यमाणे ।।२९०।।

इससे तुममें भ्रमसे प्रतीत हुआ यह सब मिथ्या ही है, इसे सत्य न जान, तुम तो साक्षात् सुखस्वरूप ब्रह्म ही हो, तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं है, ऐसा बुद्धिमें विचार कर ।। इस संसारमें किसी अन्य लोकमें अथवा अन्य गुफामें अन्य तीर्थमें या अन्य कर्म-परम्परामें अथवा अन्य शास्त्रमें ब्रह्म नहीं है, परन्तु तत्त्वज्ञानियोंने इस जगत्में विचार करनेपर अपनेको परब्रह्म जाना है ।। २९० ।।

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु पश्यति ।
गोपः कक्षगतं छागं यथा कूपेषु दुर्मतिः ।।२९१।।

जैसे मूढ़मति ग्वालिया बगलमें स्थित बकरेको कूपमें प्रतिबिम्बरूपसे देखता है, ठीक वैसे ही मूढ पुरुष अपनेमें स्थित ब्रह्मतत्त्वको न जानकर शास्त्रोंमें ढूंढता है ।।२९१।।

स्वमात्मानं परं मत्वा परमात्मानमन्यथा ।
विमृग्यते पुनः स्वात्मा बहिः कोशेषु पण्डितैः ।।२९२।।
विस्मृत्य वस्तुनस्तत्त्वमध्यारोप्य च वस्तुनि ।
अवस्तुतां च तद्धर्मान्मुधा शोचति नान्यथा ।।२९३।।

पण्डितमानी पुरुष अपनी आत्माको ब्रह्मसे भिन्न और परमात्माको जीवसे भिन्न जानकर पुनः अपनी आत्माको अन्नमय आदि कोशोंसे बाहर खोजते हैं ।। अज्ञानीपुरुष वस्तुस्वरूपको भूलकर वस्तुमें अवस्तु—सर्पादि और उनके धर्मोंका आरोपकर वृथा शोक करता है, ऐसा न करनेपर शोक नहीं करता ।।२९२-२९३।।

आत्मानात्मविवेकं ते वक्ष्यामि शृणु सादरम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण मुच्यतेऽनात्मबन्धनात् ।।२९४।।

आत्मा और अनात्माका विवेक-भेदज्ञान तुम्हारे लिए कहूँगा, उसको तुम सादर सुनो ! जिसके श्रवणमात्रसे देहादि अनात्म बन्धनसे मनुष्य मुक्त हो जाता है ।।२९४।।

इत्युक्त्वाभिमुखीकृत्य शिष्यं करुणया गुरुः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयन् ।।२९५।।
सम्यक्प्राबोधयत्तत्त्वं शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ।
सर्वेषामुपकाराय तत्प्रकारोऽत्र दर्श्यते ।।२९६।।

ऐसा कहकर गुरु कृपाकर शिष्यको सम्मुख बैठाकर अध्यारोप और अपवादके द्वारा

प्रपञ्चरहित ब्रह्मका विस्तारसे वर्णन करते हैं और शास्त्रदृष्टमार्गसे तत्त्वस्वरूपका भली प्रकार प्रबोध कराते हुए इस विषयमें सबके उपकारके लिए वह प्रकार दिखाया जाता है ॥

॥ अध्यारोप ॥

वस्तुन्यवस्त्वारोपो यः सोऽध्यारोप इतीर्यते ।
असर्पभूते रज्ज्वादौ सर्पत्वारोपण यथा ॥२९७॥

सत्य पदार्थमें जो मिथ्या वस्तुका आरोप वह अध्यारोप है ऐसा कहा जाता है, जैसे असर्पभूत रज्जु आदिमें सर्पत्व का आरोप है ॥२९७॥

वस्तु तावत्परं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणम् ।
इदमारोपितं यत्र भाति खे नीलतादिवत् ॥२९८॥

परब्रह्म ही यथार्थ वस्तु है, 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म' वह सत्य ज्ञानादिस्वरुप है । जैसे आकाशमें नीलता आदिकी प्रतीति होती है, वैसे जिस ब्रह्ममें आरोपित किया हुआ यह जगत् प्रतीत होता है ॥२९८॥

॥ अज्ञान ॥

तत्कारणं यदज्ञानं सकार्यं सद्विलक्षणम् ।
अवस्त्वित्युच्यते सद्भिर्यस्य बाधा प्रदृश्यते ॥२९९॥

घट, पट आदि समस्त जगद्रूप कार्यसहित ब्रह्मसे भिन्न अज्ञान जो सारे जगत्का उपादानकारण है और जिसकी निवृत्ति देखी जाती है, वह अवस्तु-मिथ्या है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥२९९॥

अवस्तु तत्प्रमाणैर्यद्बाध्यते शुक्तिरौप्यवत् ।
न बाध्यते यत्तद्वस्तु त्रिषु कालेषु शुक्तिवत् ॥३००॥

शुक्तिमें रजत-सीपीमें चांदीके समान जिसका प्रमाणोंद्वारा बाध हो वह अवस्तु-मिथ्या है, शुक्तिके समान जो तीनों कालोंमें बाधित न हो वह वस्तु सत्य है ॥३००॥

शुक्तेर्बाधा न खल्वस्ति रजतस्य यथा तथा ।
अवस्तुसंज्ञितं यत्तज्जगदध्यासकारणम् ॥३०१॥
सदसद्भ्यामनिर्वाच्यमज्ञानं त्रिगुणात्मकम् ।
वस्तुतत्त्वावबोधैकबाध्यं तदभावलक्षणम् ॥३०२॥
मिथ्यासम्बन्धतस्तत्र ब्रह्मण्याश्रित्य तिष्ठति ।
मणौ शक्तिर्यथा तद्वन्नैतदाश्रयदूषकम् ॥३०३॥
सद्भावे लिङ्गमेतस्य कार्यमेतच्चराचरम् ।
मानं श्रुतिः स्मृतिश्चाज्ञोऽहमित्यनुभवोऽपि च ॥३०४॥

जैसे शुक्तिमें कल्पित रजतका बाध होता है, वैसे शुक्तिका बाध नहीं होता, जो

[illegible stamp]

अवस्तु नामवाला है वह जगद्भ्रमका कारण है ॥ अज्ञान ब्रह्मके समान सद्रूपसे अथवा खपुष्प-आकाशपुष्प आदिके समान असद्रूपसे निरूपण के योग्य नहीं है, सत्त्व, रज और तमोगुणरूप है, ब्रह्मरूप वस्तु स्वरूपके ज्ञानमात्रसे ही बाध्य है और वह भावरूप है ॥ जैसे सूर्यकान्त मणिमें दाहकशक्ति रहती हैं, परन्तु वह मणिको जलाती नहीं, वैसे यह अज्ञान कल्पित सम्बन्धसे उस ब्रह्मका आश्रय कर रहता है, परन्तु आश्रय ब्रह्ममें किसीप्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं करता है ॥ यह चराचरात्मक जगद्रूप कार्य इस अज्ञानके अस्तित्वमें लिङ्ग है और श्रुति स्मृति और 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा अनुभव भी अज्ञानमें प्रमाण है ॥३०१-३०४॥

अज्ञानं प्रकृतिः शक्तिरविद्येति निगद्यते।
तदेतत्सन्न भवति नासद्वा शुक्तिरौप्यवत् ॥३०५॥

अज्ञान प्रकृति **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वेता, ४।१०) शक्ति **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते** (श्वेता ६।८) और अविद्या इन नामोंसे कहा जाता है। शुक्तिमें रजतके समान यह अज्ञान न सत् है और न असत् है ॥३०५॥

सतो भिन्नमभिन्नं वा न दीपस्य प्रभा यथा।
न सावयवमन्यद्वा बीजस्थाङ्कुरवत्कचित् ॥३०६॥

जैसे दीपकी प्रभा दीपसे भिन्न अथवा अभिन्न नहीं कही जाती, वैसे सद्ब्रह्मसे अज्ञान भिन्न अथवा अभिन्न नहीं कहा जाता। अथवा बीजमें अङ्कुरके समान अज्ञान सावयव अथवा निरवयव भी कहीं नहीं कहा जाता ॥३०६॥

अत एतदनिर्वाच्यमित्येव कवयो विदुः।
समष्टिव्यष्टिरूपेण द्विधाज्ञानं निगद्यते ॥३०७॥

अतएव विद्वान् लोग अज्ञानको अनिर्वचनीय [सदसद्विलक्षणत्वम्] कहते हैं, समष्टि और व्यष्टि इस भेदसे अज्ञान दो प्रकारका कहा जाता है ॥३०७॥

॥ समष्टि अज्ञान—माया ॥

नानात्वेन प्रतीतानामज्ञानानामभेदतः।
एकत्वेन समष्टिः स्याद्भूरुहाणां वनं यथा ॥३०८॥
इयं समष्टिरुत्कृष्टा सत्त्वांशोत्कर्षतः पुरा।
मायेति कथ्यते तज्ज्ञैः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥३०९॥

अलग अलग होनेपर भी जैसे वृक्षोंको अभेदरूपसे वन कहा जाता है, वैसे ही नानारूपसे प्रतीत हुए अज्ञानोंका भेद न होनेसे एकरूपसे समष्टि कहा जाता है ॥ पहले सत्त्वगुणके उत्कर्षसे यह समष्टि अज्ञान उत्कृष्ट कहलाता है, केवल शुद्ध सत्त्वरूप ही माया है, ऐसा उसे जाननेवाले कहते हैं ॥३०८–३०९॥

॥ ईश्वर ॥

मायोपहितचैतन्यं साभासं सत्त्वबृंहितम् ।
सर्वज्ञत्वादिगुणकं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥३१०॥
अव्याकृतं तदव्यक्तमीश इत्यपि गीयते ।
सर्वशक्तिगुणोपेतः सर्वज्ञानावभासकः ॥३११॥
स्वतन्त्रः सत्यसंकल्पः सत्यकामः स ईश्वरः ।
तस्यैतस्य महाविष्णोर्महाशक्तेर्महीयसः ॥३१२॥

शुद्ध सत्त्वरूप माया उपाधि वाला चैतन्य आभास युक्त सत्त्वगुण की अधिकतावाला सर्वज्ञत्व आदि गुणवाला, सृष्टि, स्थिति और लयका कारण जो अव्याकृत है; वह अव्यक्त-ईश्वर है, ऐसा भी कहा जाता है ॥ सर्वशक्तिरूप गुणोंसे युक्त, सर्वज्ञानोंका प्रकाशक, स्वतन्त्र, सत्यसङ्कल्प और जो सत्यकाम है वह ईश्वर है, और यह महाविष्णु, महाशक्ति एवं अतिशय महान् है ॥ ३१०-३१२॥

॥ कारणशरीर ॥

सर्वज्ञत्वेश्वरत्वादिकारणत्वान्मनीषिणः ।
कारणं वपुरित्याहुः समष्टिं सत्त्वबृंहितम् ॥३१३॥
आनन्दप्रचुरत्वेन साधकत्वेन कोशवत् ।
सैषानन्दमयः कोश इतीशस्य निगद्यते ॥३१४॥
सर्वोपरमहेतुत्वात्सुषुप्तिस्थानमिष्यते ।
प्राकृतः प्रलयो यत्र श्राव्यते श्रुतिभिर्मुहुः ॥३१५॥

सर्वज्ञत्व और ईश्वरत्व आदि धर्मोंका कारण होनेसे सत्त्वगुणकी अधिकतावाले समष्टि अज्ञानको विद्वान् लोग (ईश्वरका) कारणशरीर कहते हैं ॥ रेशमके कीटके बन्देके समान साधक (आवरक) होनेसे आनन्दकी अधिकता होनेके कारण वही (अज्ञान) ईश्वरका आनन्दमय कोश कहा जाता है अर्थात् जैसे कोश कीटका आवरक है, वैसे ही समष्टि अज्ञान भी आनन्दस्वरूप ईश्वरका आवरक है ॥ सम्पूर्ण लयों-यावत् प्राणियोंके लयका हेतु होनेसे वह सुषुप्ति स्थान कहा जाता है, जिसमें प्राकृत लय होता है, इस प्रकार श्रुतियों द्वारा वार वार सुनाया जाता है ॥३१३-३१५॥

॥ व्यष्टि अज्ञान-अविद्या ॥

अज्ञानं व्यष्ट्यभिप्रायादनेकत्वेन भिद्यते ।
अज्ञानवृत्तया नाना तत्तद्गुणविलक्षणाः ॥३१६॥
वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायाद्भूरुहा इत्यनेकता ।
यथा तथैवाज्ञानस्य व्यष्टितः स्यादनेकता ॥३१७॥

अज्ञान (अविद्या) व्यष्टिके अभिप्रायसे अनेकरूपसे भेदको प्राप्त होता है। सत्त्व, रज एवं तमोगुणके द्वारा विलक्षण स्वभाववाले अज्ञानकी वृत्तियाँ भी नाना (अनेक) हैं। यद्यपि वन समष्टिरूपसे एक है तो भी अनेक वृक्ष होनेके कारण व्यष्टिरूप वृक्षसे जैसे वह अनेक है, वैसे ही अज्ञान भी व्यष्टिरूपसे अनेक है ॥३१६-३१७॥

व्यष्टिर्मलिनसत्त्वैषा रजसा तमसा युता।
ततो निकृष्टा भवति योपाधिः प्रत्यगात्मनः ॥३१८॥

रजो और तमोगुणसे युक्त यह व्यष्टि अविद्या मलिनसत्त्व कही जाती है अर्थात् रजो और तमोगुणसे अभिभूत सत्त्वगुणवाली अविद्या निकृष्ट होती है, वही प्रत्यगात्माकी उपाधि कही गई है ॥३१८॥

॥ प्रत्यगात्मा ॥

चैतन्यं व्यष्ट्यवच्छिन्नं प्रत्यगात्मेति गीयते।
साभासं व्यष्ट्युपहितं सत्तादात्म्येन तद्गुणैः ॥३१९॥
अभिभूतः स एवात्मा जीव इत्यभिधीयते।
किंचिज्ज्ञत्वानीश्वरत्वसंसारित्वादिधर्मवान् ॥३२०॥

व्यष्टि अज्ञानयुक्त चैतन्य प्रत्यगात्मा कहा जाता है। (व्यष्टिरूप अज्ञानमें प्रतिबिम्बित) चिदाभाससहित व्यष्टि अज्ञानरूप उपाधिवाला, अज्ञानके साथ तादात्म्यापन्न होनेके कारण [1]अज्ञानरूप उपाधिके गुणों द्वारा अभिभूत हुआ वही आत्मा अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व, संसारित्व आदि धर्मोंवाला जीव कहा जाता है ॥३१९-३२०॥

अस्य व्यष्टिरहंकारकारणत्वेन कारणम्।
वपुस्तत्राभिमान्यात्मा प्राज्ञ इत्युच्यते बुधैः ॥३२१॥
प्राज्ञत्वमस्यैकाज्ञानभासकत्वेन संमतम्।
व्यष्टेर्निकृष्टत्वेनास्य नानेकाज्ञानभासकम् ॥३२२॥

इस जीवका व्यष्टि अज्ञान अहंकारका कारण होनेसे कारणशरीर कहा जाता है। उस कारणशरीरमें (यह मैं हूँ) ऐसा अभिमान करनेवाले जीवको विद्वान् लोग प्राज्ञ कहते हैं॥ यह जीव केवल एक अज्ञानका प्रकाशक होनेके कारण प्राज्ञ माना गया है व्यष्टि अज्ञान उपाधि निकृष्ट है, अतः वह अनेक अज्ञानोंका भासक-साक्षी नहीं है ॥३२१-३२२॥

---

१. 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्र० सू० २।३।२९) तद्गुणसारबुद्धिके गुण-सुखादि सार-प्रधान जिस आत्माके संसारित्व होनेमें है, बुद्धिके परिणामसे उसमें अणुत्व आदि परिणामका व्यपदेश है, जैसे परमात्मामें उपाधिवश 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छां० ३।१४।२) हैं।

॥ ईश्वर और प्राज्ञकी एकता ॥

स्वरूपाच्छादकत्वेनाप्यानन्दप्रचुरत्वतः ।
कारणं वपुरानन्दमयः कोश इतीर्यते ॥३२३॥

यह कारण शरीर जीवके स्वरूपका आवरक होनेपर भी आनन्द बहुत होनेसे आनन्दमय कोश है, ऐसा कहा जाता है ॥३२३॥

अस्यावस्था सुषुप्तिः स्याद्यत्रानन्दः प्रकृष्यते ।
एषोऽहं सुखमस्वाप्सं न तु किंचिदवेदिषम् ॥३२४॥
इत्यानन्दसमुत्कर्षः प्रबुद्धेषु प्रदृश्यते ।
समष्टेरपि च व्यष्टेरुभयोर्वनवृक्षवत् ॥३२५॥
अभेद एव नो भेदो जात्येकत्वेन वस्तुतः ।
अभेद एव ज्ञातव्यस्तथेशप्राज्ञयोरपि ॥३२६॥

सुषुप्ति—गाढ़ निद्रा इस जीवकी अवस्था है, जिसमें आनन्दका प्रकर्ष है, जैसे कि 'यह मैं सुखपूर्वक सोया किन्तु कुछ भी नहीं जाना' इसप्रकार आनन्दका सम्यग् उत्कर्ष जागे मनुष्योंमें देखा जाता है। वन और वृक्षके समान समष्टि और व्यष्टि अज्ञानोंमें अभेद ही है भेद नहीं, वास्तवमें जैसे जाति और एकत्वसे व्यक्तियोंमें अभेद है, वैसे ही ईश्वर और प्राज्ञका भी अभेद ही समझना चाहिए ॥३२४-३२६॥

सत्युपाध्योरभिन्नत्वे क्व भेदस्तद्विशिष्टयोः ।
एकीभावे तरङ्गाब्ध्योः को भेदः प्रतिबिम्बियोः ॥३२७॥

समष्टि अज्ञान और व्यष्टि अज्ञान इन दोनों उपाधियोंके अभिन्न होनेपर उन उपाधियोंसे युक्त ईश्वर और प्राज्ञमें भेद कहाँ ? जब तरङ्ग और समुद्र एक हैं तो उनमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बोंका भेद कैसे हो सकता है ? ॥३२७॥

अज्ञानतदवच्छिन्नाभासयोरुभयोरपि ।
आधारं शुद्धचैतन्यं यत्तत्तुर्यमितीर्यते ॥३२८॥

अज्ञान और अज्ञानावच्छिन्न दो चिदाभास उन दोनोंका भी अधिष्ठान जो शुद्ध चैतन्य है वह तुरीय-चतुर्थ है, ऐसा कहा जाता है ॥३२८॥

एतदेवाविविक्तं सदुपाधिभ्यां च तद्गुणैः ।
महावाक्यस्य वाच्यार्थो विविक्तं लक्ष्य इष्यते ॥३२९॥

यही शुद्ध चैतन्य व्यष्टि और समष्टि अज्ञानरूप दो उपाधियों एवं उन दोनों उपाधियोंके गुणोंके साथ जब मिलितभाव-सा होता है तब वह '**तत्त्वमसि**' आदि महावाक्योंके जीव और ईश्वर वाच्यार्थ होते हैं और उपाधियोंसे विविक्त होनेपर लक्ष्यार्थ होते हैं ॥३२९॥

॥ जगत् रचना ॥

अनन्तशक्तिसंपन्नो मायोपाधिक ईश्वरः ।
ईक्षामात्रेण सृजति विश्वमेतच्चराचरम् ॥३३०॥

माया उपाधिवाला ईश्वर अनन्तशक्ति सम्पन्न है, वह ईक्षणमात्रसे सम्पूर्ण चराचर विश्वकी सृष्टि करता है **'स ईक्षाञ्चक्रे'** (उसने ईक्षण किया) **'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय'** (मैं एक हूँ, बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) **'स सर्वमसृजत्'** (उसने सबकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियाँ भी कहती हैं ॥ ३३० ॥

अद्वितीयस्वमात्रोऽसौ निरुपादान ईश्वरः ।
स्वयमेव कथं सर्वं सृजतीति न शङ्क्यताम् ॥३३१॥
निमित्तमप्युपादानं स्वयमेव भवन्प्रभुः ।
चराचरात्मकं विश्वं सृजत्यवति लुम्पति ॥३३२॥

केवल अद्वितीय आत्मस्वरूप उपादानकारणशून्य यह ईश्वर उपादान कारणके विना अपने आप यह सब कैसे रच देता है ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ यह ईश्वर स्वयं ही निमित्त और उपादान कारण होकर स्थावर और जङ्गमरूप विश्वकी सृष्टि, रक्षण और संहार करते हैं ॥३३१–३३२॥

स्वप्राधान्येन जगतो निमित्तमपि कारणम् ।
उपादानं ततोपाधिप्राधान्येन भवत्ययम् ॥३३३॥
यथा लूता निमित्तं च स्वप्रधानतया भवेत् ।
स्वशरीरप्रधानत्वेनोपादानं तथेश्वरः ॥३३४॥

यह ईश्वर अपनी चैतन्यरूप प्रधानतासे निमित्तकारण तथा मायारूप उपाधिकी प्रधानतासे उपादानकारण होता है। जैसे मकड़ी अपनेसे निकले तारके प्रति अपने चैतन्यरूप प्रधानतासे निमित्त और अपने शरीरकी प्रधानतासे उपादान कारण है, वैसे ही जगत्की रचनामें ईश्वर है ॥३३३-३३४॥

तमःप्रधानप्रकृतिविशिष्टात्परमात्मनः ।
अभूत्सकाशादाकाशमाकाशाद्वायुरुच्यते ॥३३५॥
वायोरग्निस्तथैवाग्नेरापोऽद्भ्यःपृथिवीक्रमात् ।
शक्तेस्तमःप्रधानत्वं तत्कार्ये जाड्यदर्शनात् ॥३३६॥
आरम्भन्ते कार्यगुणान्ये कारणगुणा हि ते ।
एतानि सूक्ष्मभूतानि भूतमात्रा अपि क्रमात् ॥३३७॥

तमोगुण प्रधान मायासे युक्त परमात्माके सकाशसे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायुकी उत्पत्ति कही जाती है। वैसे ही वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी,

[आत्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापरद्भ्यः पृथिवी' यह श्रुति है] इसप्रकार क्रमसे उत्पन्न होते हैं। मायाके कार्य आकाश आदिमें जड़ता देखनेमें आती है, अतः माया तमः प्रधान ज्ञात होती है, क्योंकि जो कारणके गुण होते हैं वे ही कार्यके गुणोंको आरम्भ (उत्पन्न) करते हैं। ये आकाश आदि पाँच भूत क्रमशः सूक्ष्म भूत अथवा भूतमात्रा भी कहे जाते हैं ॥३३५-३३७॥

एतेभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यः सूक्ष्मदेहा भवन्त्यपि।
स्थूलान्यपि च भूतानि चान्योन्यांशविमेलनात् ॥३३८॥

इन सूक्ष्मभूतोंसे सब सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म भूतोंके परस्पर अंश मिलनेसे भोगने योग्य स्थूलभूत भी उत्पन्न होते हैं ॥३३८॥

॥ लिङ्ग शरीर ॥

अपञ्चीकृतभूतेभ्यो जातं सप्तदशाङ्गकम्।
संसारकारणं लिङ्गमात्मनो भोगसाधनम् ॥३३९॥

परस्पर न मिले अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतोंसे सत्तरह अवयवोंवाला सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है, जो संसारका कारण और आत्माके भोगका साधन है ॥३३९॥

श्रोत्रादिपञ्चकं चैव वागादीनां च पञ्चकम्।
प्राणादिपञ्चकं बुद्धिमनसी लिङ्गमुच्यते ॥३४०॥

श्रोत्र आदि पाँच (श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय) वाणी आदि पाँच (वाक्-मुख, हाथ, पैर, गुदिया, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय) प्राण आदि पाँच (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्राण) बुद्धि और मन, ये सत्तरह मिलकर लिङ्गशरीर वा सूक्ष्मशरीर कहे जाते हैं ॥३४०॥

श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्च जातानि।
आकाशादीनां सत्त्वांशेभ्यो धीन्द्रियाण्यनुक्रमतः ॥३४१॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अनुक्रमसे आकाश आदिके सत्त्व अंशसे उत्पन्न हुई हैं अर्थात् आकाशके सत्त्व अंशसे श्रोत्र वायुके सत्वांशसे त्वक् अग्निके सत्त्व अंशसे चक्षु, जलके सत्त्वांशसे रसना, पृथिवीके सत्त्वांशसे घ्राण उत्पन्न हुई हैं ॥३४१॥

आकाशादिगताः पञ्च सात्त्विकांशाः परस्परम्।
मिलित्वैवान्तःकरणमभवत्सर्वकारणम् ॥३४२॥

आकाश आदिमें विद्यमान पाँच सात्त्विक अंश परस्पर मिलकर सबका कारण अन्तःकरण हुआ है ॥३४२॥

प्रकाशकत्वादेतेषां सात्त्विकांशत्वमिष्यते ।
प्रकाशकत्वं सत्त्वस्य स्वच्छत्वेन यतस्ततः ॥३४३॥

अन्तःकरण और पांच ज्ञानेन्द्रिय ये वस्तुके प्रकाशक हैं, अतः आकाश आदिके सात्त्विक अंश कहे जाते हैं, क्योंकि निर्मल होनेसे सत्त्वगुण प्रकाशक है ॥ ३४३॥

तदन्तःकरणं वृत्तिभेदेन स्याच्चतुर्विधम् ।
मनो बुद्धिरहंकारचित्तं चेति तदुच्यते ॥३४४॥

वह अन्तःकरण वृत्तिभेदसे चार प्रकारका है, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इस नामसे कहा जाता है ॥३४४॥

संकल्पान्मन इत्याहुर्बुद्धिरर्थस्य निश्चयात् ।
अभिमानादहंकारश्चित्तमर्थस्य चिन्तनात् ॥३४५॥

सङ्कल्प करनेसे 'मन' पदार्थविषयक निश्चय करनेसे 'बुद्धि' अभिमान करनेसे 'अहङ्कार' और अर्थविषयक चिन्तन करनेके कारण 'चित्त' है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥३४५॥

मनस्यपि च बुद्धौ च चित्ताहंकारयोः क्रमात् ।
अन्तर्भावोऽत्र बोद्धव्यो लिङ्गलक्षणसिद्धये ॥३४६॥
चिन्तनं च मनोधर्मः संकल्पादिर्यथा तथा ।
अन्तर्भावो मनस्येव सम्यक्चित्तस्य सिध्यति ॥३४७॥

पूर्वोक्त सत्तरह अवयवोंवाले लिङ्गशरीरके लक्षणकी सिद्धिके लिए यहाँ मनमें और बुद्धिमें भी क्रमसे चित्त और अहङ्कारका (मनमें चित्त और बुद्धिमें अहङ्कारका) अन्तर्भाव समझना चाहिए । यदि यह अन्तर्भाव न माना जाय तो लिङ्गशरीर सत्तरह अवयवोंका न होकर उन्नीस अवयवोंका होगा । इसलिए यह अन्तर्भाव माना गया है ॥ जैसे सङ्कल्प आदि मनके धर्म हैं, वैसे ही चिन्तन भी मनका धर्म है, इसलिए मनमें ही चित्तका सम्यक् अन्तर्भाव सिद्ध होता है ॥३४६-३४७॥

देहादावहमित्येव भावो दृढतरो धियः ।
दृश्यतेऽहंकृतेस्तस्मादन्तर्भावोऽत्र युज्यते ॥३४८॥

देह आदिमें बुद्धिका ही 'अहम्-मैं' ऐसा अतिदृढ़भाव देखा जाता है, इससे बुद्धिमें ही अहङ्कारका अन्तर्भाव युक्त है ॥३४८॥

तस्मादेव तु बुद्धेः कर्तृत्वं तदितरस्य करणत्वम् ।
सिध्यत्यात्मन उभयाद्विद्यात्संसारकारणं मोहात् ॥३४९॥

इसीकारण बुद्धि कर्त्री और मन आदि अन्य करण सिद्ध होते हैं । इन दोनों प्रकारके मोह-अज्ञानवश आत्माके संसार जन्म-मरणका कारण धर्माधर्म समझो अर्थात् दोनों प्रकारके अज्ञानसे आत्मामें धर्माधर्म होते हैं, जिससे पुनः संसार होता है ॥३४९॥

॥ विज्ञानमय कोश ॥

विज्ञानमयकोशः स्याद्बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सह।
विज्ञानप्रचुरत्वेनाप्याच्छादकतयात्मनः ॥३५०॥
विज्ञानमयकोशोऽयमिति विद्वद्भिरुच्यते।
अयं महानहंकारवृत्तिमान्कर्तृलक्षणः।
सर्वसंसारनिर्वोढा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥३५१॥

यह बुद्धि श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके साथ 'विज्ञानमय' कोश है। विज्ञान अधिक होनेपर भी आत्माका आवरक होनेके कारण इसे विद्वान् लोग 'विज्ञानमय' कोश कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश महान् अहङ्कार वृत्तिवाला, कर्तृत्व लक्षणवाला और सर्वसंसारका निर्वाहक एवं विज्ञानमय शब्दका भागी होता है ॥३५०-३५१॥

अहं ममेत्येव सदाऽभिमानं देहेन्द्रियादौ कुरुते गृहादौ।
जीवाभिमानः पुरुषोऽयमेव कर्ता च भोक्ता च सुखी च दुःखी ॥३५२॥

'मैं जीव हूँ' ऐसा अभिमान करनेवाला यही पुरुष देह, इन्द्रिय आदिमें और घर आदिमें 'मैं और मेरा' ऐसा सदा अभिमान करता है, इससे कर्ता, भोक्ता होकर सुखी दुःखी होता है। देहादिमें 'अहंबुद्धि' और गृह आदिमें 'मम बुद्धि' करनेसे ही तो कर्ता, भोक्ता होकर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' ऐसा व्यवहार करता है ॥३५२॥

स्ववासनाप्रेरित एव नित्यं करोति कर्मोभयलक्षणं च।
भुङ्क्ते तदुत्पन्नफलं विशिष्टं सुखं च दुःखं च परत्र चात्र ॥३५३॥

अपनी वासनासे ही प्रेरित जीव नित्य शुभाशुभ दोनों प्रकारके कर्म करता है और उन कर्मोंसे उत्पन्न विशिष्ट फल, सुख एवं दुःख इस लोक तथा परलोकमें भोगता है ॥३५३॥

नानायोनिसहस्रेषु जायमानो मुहुर्मुहुः।
म्रियमाणो भ्रमत्येष जीवः संसारमण्डले ॥३५४॥

यह जीव पशु, पक्षी आदि सहस्रों योनियोंमें बार-बार जन्मता और मरता हुआ सदा संसार मण्डलमें भ्रमता ही है ॥३५४॥

॥ मनोमय कोश ॥

मनो मनोमयः कोशो भवेज्ज्ञानेन्द्रियैः सह।
प्राचुर्यं मनसो यत्र दृश्यतेऽसौ मनोमयः ॥३५५॥

श्रोत्र, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमय कोश कहलाता है। जहाँ मनकी प्रधानता देखी जाती है, इससे उसे मनोमय कोश कहते हैं ॥३५५॥

चिन्ताविषादहर्षाद्याः कामाद्या अस्य वृत्तयः।
मनुते मनसैवैष फलं कामयते बहिः।
यतते कुरुते भुङ्क्ते तन्मनः सर्वकारणम् ॥३५६॥

चिन्ता, विषाद, हर्ष आदि और काम आदि जिस मनकी वृत्तियाँ हैं, यह जीव मनसे ही मनन-संकल्प विकल्प करता है, और बाह्य पदार्थरूपी फलकी इच्छा करता है, तब मन यत्न करता है, कर्म करता है और उनका फल भी भोगता है, इससे वह मन ही सबका कारण है ॥३५६॥

मनो ह्यमुष्य प्रवणस्य हेतुरन्तर्बहिश्चार्थमनेन वेत्ति ।
शृणोति जिघ्रत्यमुनैव चेक्षते वक्ति स्पृशत्यत्ति करोति सर्वम् ॥३५७॥

निश्चय यह मन ही विषयोंकी ओर झुकावका हेतु है, यह जीव इस मनके द्वारा ही भीतर और बाह्य विषयोंको जानता है, इसके द्वारा ही सुनता है, सूँघता है, देखता है, बोलता है, स्पर्श करता है, खाता है और सब कार्य करता है। मनकी स्थिरतासे ही बाह्य रूपादि विषयोंका अथवा भीतर सुखादिका ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं, इसलिए सर्वविषयक ज्ञानका हेतु मन ही कहा गया है ॥३५७॥

बन्धश्च मोक्षो मनसैव पुंसामर्थोऽप्यनर्थोऽप्यमुनैव सिध्यति ।
शुद्धेन मोक्षो मलिनेन बन्धो विवेकतोऽर्थोऽप्यविवेकतोऽन्यः ॥३५८॥

मनसे ही पुरुषोंका बन्ध और मोक्ष होता है, अर्थ और अनर्थ (भला-बुरा) भी इस मनसे ही सिद्ध होते हैं, शुद्ध मनसे मोक्ष और मलिन मनसे बन्धन, विवेक से अर्थ और अविवेकसे अनर्थ होता है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** (मनुष्योंका अपना मन ही बन्ध एवं मोक्षका कारण है) ॥३५८॥

रजस्तमोभ्यां मलिनं त्वशुद्धमज्ञानजं सत्त्वगुणेन रिक्तम् ।
मनस्तमोदोषसमन्वितत्वाज्जडत्वमोहालसताप्रमादैः ।
तिरस्कृतं सन्न तु वेत्ति वास्तवं पदार्थतत्त्वं ह्युपलभ्यमानम् ॥३५९॥

अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह मन जब सत्त्वगुणसे रहित रजो और तमोगुणसे युक्त होता है तब यह अशुद्ध एवं मलिन होता है। तमोगुणसे युक्त होनेके कारण जड़ता, मोह, आलस्य और प्रमादसे तिरस्कृत हुआ यह मन उपलब्ध हुए भी यथार्थ पदार्थको वास्तवरूपसे नहीं जान पाता ॥३५९॥

रजोदोषैर्युक्तं यदि भवति विक्षेपकगुणैः
प्रतीपैः कामाद्यैरनिशमभिभूतं व्यथयति ।
कथंचित्सूक्ष्मार्थावगतिमदपि भ्राम्यति भृशं
मनोदीपो यद्वत्प्रबलमरुता ध्वस्तमहिमा ॥३६०॥

जैसे दीपक प्रबल पवनसे नष्ट महिमावाला होता है अर्थात् पदार्थोंका प्रकाश करनेमें असमर्थ होता है, वैसे मन भी यदि रजोगुणके दोषोंसे युक्त हो तो विक्षेपको उत्पन्न करनेवाले प्रतिकूल काम आदि गुणोंसे अभिभूत होकर सतत जीवको पीड़ा देता है।

किसी प्रकार सूक्ष्म पदार्थके जाननेकी शक्तिवाला होकर भी अतिशय भ्रमाता रहता है ॥३६०॥

ततो मुमुक्षुर्भवबन्धमुक्त्यै रजस्तमोभ्यां च तदीयकार्यैः।
वियोज्य चितं परिशुद्धसत्त्वं प्रियं प्रयत्नेन सदैव कुर्यात् ॥३६१॥

इससे मुमुक्षु संसार बन्धनसे मुक्ति पाने के लिए रजो और तमोगुण और उनके कार्य मोहादिसे चित्तको अलगकर अतिशुद्ध सत्त्व एवं प्रियका सदैव यत्नद्वारा संपादन करे ॥३६१॥

गर्भावासजनिप्रणाशनजराव्याध्यादिषु प्राणिनां
यद्दुःखं परिदृश्यते च नरके तच्चिन्तयित्वा मुहुः।
दोषानेव विलोक्य सर्वविषयेष्वाशां विमुच्याभित-
श्चित्तग्रन्थिविमोचनाय सुमतिः सत्त्वं समालम्बताम् ॥३६२॥

हे श्रेष्ठ बुद्धिवाले मनुष्य! गर्भवास, जन्म, मरण, जरावस्था, व्याधि आदिमें और नरकमें जो दुःख-क्लेश प्राणियोंमें दिखाई देता है, उसका वार वार विचार कर एवं उक्त दोषों को देखकर समस्त विषयोंकी आशाका परित्यागकर चारों ओरसे चिद्‌जड़ग्रन्थिको खोलनेके लिए सत्त्व-गुणका ही अच्छी तरह अवलम्बन कर **'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख-दोषानुदर्शनम्'** (गीता १३।८) ॥ ३६२॥

॥ चितप्रसादः ॥

यमेषु निरतो यस्तु नियमेषु च यत्नतः।
विवेकिनस्तस्य चित्तं प्रसादमधिगच्छति ॥३६३॥

परन्तु जो यत्नसे यमों और नियमोंमें रत रहता है, उस विवेकीका चित्त मिर्मलता को प्राप्त होता है। **'अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः'** (यो. सू, २।३०) अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (निर्वाह से अधिक वस्तुओंका असंग्रह) ये यम हैं। **'शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'** (यो. सू. २।३२) (शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान-ईश्वर अर्पण बुद्धिसे कर्म-उपासना करना' ये नियम हैं) ये यम और नियम महर्षि पतञ्जलि के मतानुसार हैं। परन्तु भगवत्पाद शङ्कराचार्यने स्वरचित अपरोक्षानुभूतिमें यम और नियमका लक्षण इस प्रकार किया है—

'सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥१०४॥

'सब ब्रह्म है' इस प्रकारके विज्ञानसे सकल इन्द्रियोंका जो संयम वह यम कहा गया है, अतः वार वार अभ्यास करने योग्य है ॥

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परमानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥१०५॥

'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार सजातीय वृत्तिका प्रवाह और तद्भिन्न विजातीय वृत्तिका तिरस्कार-निरोध यह नियम है, इससे परमानन्दकी प्राप्ति होती है, अतः विद्वानोंद्वारा नियमसे नियमका पालन करना चाहिए ॥३६३॥

आसुरीं सम्पदं त्यक्त्वा भजेद्यो देवसम्पदम् ।
मोक्षैककांक्षया नित्यं तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६४॥

जो केवल मोक्षकी इच्छासे आसुरी सम्पद्का त्यागकर दैवीसम्पद्का सेवन करता है उसका चित्त नित्य प्रसन्न रहता है । इसका विस्तृत वर्णन भगवद्गीता के १६ अध्याय में द्रष्टव्य है ॥३६४॥

परद्रव्यपरद्रोहपरनिन्दापरस्त्रियः ।
नालम्बते मनो यस्य तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६५॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः समत्वेन पश्यति ।
सुखं दुःखं विवेकेन तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६६॥

जिसका मन दूसरेके धनपर नहीं जाता, दूसरोंसे द्रोह नहीं करता, दूसरोंकी निन्दा नहीं करता, दूसरेकी स्त्रीपर लुभायमान नहीं होता, उनका मन प्रसन्न रहता है ॥ जो अपने समान सब जीवोंमें समरूपसे सुख दुःखको विवेक से देखता है, उसका चित्त प्रसन्न रहता है ॥३६५-३६६॥

ऐसा स्मृति वचन भी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (गी. ६।३२)

अत्यन्तं श्रद्धया भक्त्या गुरुमीश्वरमात्मनि ।
यो भजत्यनिशं क्षान्तस्तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३६७॥

जो क्षमाशील पुरुष अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्तिसे अपनेमें गुरु और ईश्वरको निरन्तर भजता है (उपासना करता है) उसका चित्त प्रसन्न रहता है ॥३६७॥

शिष्टान्नमीशार्चनमार्यसेवां तीर्थाटनं स्वाश्रमधर्मनिष्ठाम् ।
यमानुषक्तिं नियमानुवृत्तिं चित्तप्रसादाय वदन्ति तज्ज्ञाः ॥३६८॥

शिष्टान्न-यज्ञशेष अन्न, ईश्वरका पूजन, श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा, तीर्थाटन, स्वाश्रम विहित कर्ममें निष्ठा, यमोंमें आसक्ति और नियमोंकी अनुवृत्तिको इनके जाननेवाले विद्वान् लोग चित्तकी प्रसन्नताके लिए कहते हैं अर्थात् इनसे चित्तकी प्रसन्नता होती है ॥३६८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनाम् ।
पूतिपर्युषितादीनां त्यागः सत्त्वाय कल्पते ॥३६९॥

[1]अतिकटु, अतिअम्ल-खट्टा, अतिलवण-खारा, अत्युष्ण, अति तीक्ष्ण, अतिरूक्ष, अतिदाहक-छातीमें जलन उत्पन्न करनेवाला, सड़ा हुआ, बासी, दुर्गन्धयुक्त आहारका परित्याग सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिए समर्थ होता है ।।३६९।।

श्रुत्या सत्त्वपुराणानां सेवया सत्त्ववस्तुनः ।
अनुवृत्त्या च साधूनां सत्त्ववृत्तिः प्रजायते ।।३७०।।

सत्त्वगुण प्रधान पुराणोंके सुननेसे, **'पुराण मानवो धर्मः साङ्गवेदश्चिकित्सितम्'** सात्त्विक वस्तुके सेवनसे और सज्जन पुरुषोंके अनुसरण करनेसे सत्त्वगुणी वृत्ति उत्पन्न होती है ।।३७०।।

यस्य चित्तं निर्विषयं हृदयं यस्य शीतलम् ।
तस्य मित्रं जगत्सर्वं तस्य मुक्तिः करस्थिता ।।३७१।।

जिसका चित्त निर्विषयक है, जिसका हृदय शीतल-शान्त है, उसका सम्पूर्ण जगत् मित्र है, मुक्ति उसके हाथमें स्थित है ।।३७१।।

हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः ।
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले स लभत इह शीघ्रं साधु चित्तप्रसादम् ।।३७२।।

जो सदा हितकर और परिमित भोजन करनेवाला है, नित्य एकान्तका सेवन करने वाला है, एक बार उचित व हितकर वचन बोलनेवाला है, स्वल्प निद्रा और विहार करनेवाला है, निरन्तर इन्द्रिय संयममें तत्पर है और जो विहित समयमें ईश्वराराधन करता है, वह साधु-पुरुष इस संसारमें और इस जन्ममें शीघ्र चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है ।।३७२।।

चित्तप्रसादेन विनावगन्तुं बन्धं न शक्नोति परात्मतत्त्वम् ।
तत्त्वावगत्या तु विना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मसहस्रकोटिषु ।।३७३।।

चित्तकी शुद्धताके विना बन्ध और परमात्माके स्वरूपको जाननेमें कोई भी समर्थ नहीं है, परन्तु परब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके बिना ब्रह्माके सहस्र कोटि जन्मोंमें भी मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती । यथा 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह श्रुति है ।।३७३।।

---

१. **आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।** (गीता० १७।८,९,१०)
इस प्रकार क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस व्यक्तियोंका आहार कहा गया है ।

मनः प्रसादः पुरुषस्य बन्धो मनः प्रसादो भवबन्धमुक्तिः ।
मनः प्रसादाधिगमाय तस्मान्मनोनिरासं विदधीत विद्वान् ॥३७४॥

मनकी विषय प्रसन्नता-कलुषता पुरुषके बन्धनका कारण है और मनकी प्रसन्नता-शुद्धता संसार बन्धनसे मुक्तिका हेतु है। इसलिए मनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिए विद्वानको चाहिए कि मनकी कलुषित वृत्तियों का निरोध संपादन करे ॥३७४॥

॥ पाँच कर्मेन्द्रिय और उनकी उत्पत्ति ॥

पञ्चानामेव भूतानां रजोंशेभ्योऽभवन्क्रमात् ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्यनु ॥३७५॥

आकाश आदि पाँच भूतोंके रजो अंश से क्रमशः वाणी, हाथ, पैर, गुदिया और उपस्थ-मूत्रेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुईं ॥३७५॥

॥ प्राणोंकी उत्पत्ति और कार्य ॥

समस्तेभ्यो रजोंशेभ्यो व्योमादीनां क्रियात्मकाः ।
प्राणादयः समुत्पन्नाः पञ्चाप्यान्तरवायवः ॥३७६॥
प्राणः प्राग्गमनेन स्यादपानोऽवाग्गमनेन च ।
व्यानस्तु विष्वग्गमनादुत्क्रान्त्योदान इष्यते ॥३७७॥

आकाश आदि पाँच भूतोंके मिलित रजोंशोंसे क्रियात्मक प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच अन्दरके वायु भी उत्पन्न हुए ॥ एक ही वायु हृदयसे लेकर मुख नासिका पर्यन्त गमन करनेसे प्राण, नाभिसे चरणों तक नीचे गमन करनेसे अपान, सर्वत्र गमन करनेसे व्यान और रस आदिको ऊपर ले जाने अथवा ऊर्ध्व गमनसे उदान कहलाता है ॥३७६-३७७॥

अशितान्नरसादीनां समीकरणधर्मतः ।
समान इत्यभिप्रेतो वायुर्यस्तेषु पञ्चमः ॥३७८॥

इन प्राण आदिमें जो यह पाँचवां वायु है वह खाये अन्न रस आदिके एकीकरण धर्मवाला होनेसे समान नामसे अभिप्रेत है ॥३७८॥

क्रियैव दिश्यते प्रायः प्राणकर्मेन्द्रियेष्वलम् ।
ततस्तेषां रजोंशेभ्यो जनिरङ्गीकृता बुधैः ॥३७९॥

पाँच प्राणों और पाँच कर्मेन्द्रियोंमें प्रायः क्रिया ही पूर्णरूपसे देखी जाती है, इससे विद्वानोंने आकाश आदिके रजोंशोंसे ही इनकी उत्पत्ति स्वीकार की है ॥३७९॥

राजसीं तु क्रियाशक्तिं तमः शक्तिं जडात्मिकाम् ।
प्रकाशरूपिणीं सत्त्वशक्तिं प्राहुर्महर्षयः ॥३८०॥

महर्षि लोग कहते हैं कि क्रियाशक्ति रजोगुण की है, तमोगुणकी शक्ति जड़ात्मक है और सत्त्वगुणकी शक्ति प्रकाशरूप है ॥३८०॥

॥ प्राणमयकोश ॥

एते प्राणादयः पञ्च पञ्चकर्मेन्द्रियैः सह ।
भवेत्प्राणमयः कोशः स्थूलो येनैव चेष्टते ॥३८१॥
यद्यन्निष्पाद्यते कर्म पुण्यं वा पापमेव वा ।
वागादिभिश्च वपुषा तत्प्राणमयकर्तृकम् ॥३८२॥

वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियोंके साथ ये प्राण आदि पाँच प्राणमय कोश है, जिससे ही यह स्थूल शरीर चेष्टा करता है ॥ वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे और शरीरसे जो जो पुण्य व पापकर्म किया जाता है, वह सब प्राणमय कर्तृक हैं अर्थात् उन सबका कर्ता प्राणमय कोश है ॥३८१-३८२॥

वायुनोच्चालितो वृक्षो नानारूपेण चेष्टते ।
तस्मिन्विनिश्चले सोऽपि निश्चलः स्याद्यथा तथा ॥३८३॥
प्राणकर्मेन्द्रियैर्देहः प्रेर्यमाणः प्रवर्तते ।
नानाक्रियासु सर्वत्र विहिताविहितादिषु ॥३८४॥

जैसे वायुके द्वारा विशेषरूपसे चलाया हुआ वृक्ष अनेक प्रकारसे चेष्टा करता है, और उसके निश्चल-शान्त होनेपर वृक्ष भी निश्चल होता है, वैसे ही प्राण और कर्मेन्द्रियों से प्रेरित किया हुआ यह शरीर सर्वत्र शास्त्र विहित व शास्त्र अविहित-निषिद्ध आदि अनेक प्रकारकी क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है ॥३८३-३८४॥

॥ समष्टि लिङ्गशरीर-हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा-प्राण ॥

कोशत्रयं मिलित्वैतद्वपुः स्यात्सूक्ष्ममात्मनः ।
अतिसूक्ष्मतया लीनस्यात्मनो गमकत्वतः ॥३८५॥
लिङ्गमित्युच्यते स्थूलापेक्षया सूक्ष्ममिष्यते ।
सर्वं लिङ्गवपुर्जातमेकधीविषयत्वतः ॥३८६॥
समष्टिः स्यात्तरुगणः सामान्येन वनं यथा ।
एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सफलं जगुः ॥३८७॥

विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय ये तीन कोश मिलकर आत्माका सूक्ष्म शरीर कहलाता है । अतिसूक्ष्मरूप होनेसे सूक्ष्म और छिपे हुए आत्माका ज्ञापक होनेके कारण इसे लिङ्ग शरीर कहते हैं । स्थूल शरीरकी अपेक्षा यह सूक्ष्म कहा जाता है । सब लिङ्ग शरीरोंके समूह एक बुद्धि-हिरण्यगर्भके ज्ञानका विषय होनेसे समष्टि कहलाता है । जैसे वृक्षोंका समूह सामान्यरूपसे एक वन कहलाता है । पण्डित लोग इस समष्टि उपहित चैतन्यको सफल कहते हैं ॥३८५-३८७॥

हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा प्राण इत्यपि पण्डिताः ।
हिरण्मये बुद्धिगर्भे प्रचकास्ति हिरण्यवत् ॥३८८॥
हिरण्यगर्भं इत्यस्य व्यपदेशस्ततो मतः ।
समस्तलिङ्गदेहेषु सूत्रवन्मणिपङ्क्तिषु ।
व्याप्य स्थितत्वात्सूत्रात्मा प्राणनात्प्राण उच्यते ॥३८९॥

विद्वान् लोग हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्राण ऐसा भी कहते हैं। सुवर्णमय बुद्धिके गर्भ (भीतर) में सुवर्णके समान प्रकाशित होता है, इससे इसका हिरण्यगर्भ ऐसा नाम व्यवहार होता है। मणिकी पंक्तियोंमें सूत्रके समान समस्त लिङ्गशरीरोंमें व्याप्त होकर स्थित होनेसे सूत्रात्मा और प्राणनक्रियाका-जीवनक्रियाका हेतु होनेके कारण प्राण कहलाता है ॥३८८-३८९॥

॥ व्यष्टि लिङ्गशरीर और तैजस ॥

नैकधीविषयत्वेन लिङ्गं व्यष्टिर्भवत्यथ ।
यदेतद्व्यष्ट्युपहितं चिदाभाससमन्वितम् ॥३९०॥
चैतन्यं तैजस इति निगदन्ति मनोषिणः ।
तेजोमयान्तःकरणोपाधित्वेनैष तैजसः ॥३९१॥

एक बुद्धिका विषय न होनेसे अर्थात् प्राणी भेदसे भिन्न भिन्न अनेक ज्ञानोंका विषय होनेके कारण यह लिङ्गशरीर व्यष्टि होता है। इस व्यष्टि लिङ्गशरीरसे उपहित चिदाभाससे युक्त चैतन्यको विद्वान् लोग तैजस इस नामसे कहते हैं। तेजोमय अन्तःकरणकी उपाधिसे ही यह तैजस कहलाता है ॥३९०-३९१॥

स्थूलात्सूक्ष्मतया व्यष्टिरस्य सूक्ष्मवपुर्मतम् ।
अस्य जागरसंस्कारमयात्वाद्वपुरुच्यते ॥३९२॥
स्वप्ने जागरकालीनवासनापरिकल्पितान् ।
तैजसो विषयान्भुङ्क्ते सूक्ष्मार्थान्सूक्ष्मवृत्तिभिः ॥३९३॥
समष्टेरपि च व्यष्टेः सामान्येनेव पूर्ववत् ।
अभेद एव ज्ञातव्यो जात्यैकत्वे कुतो भिदा ॥३९४॥
द्वयोरुपाध्योरेकत्वे तयोरप्यभिमानिनोः ।
सूत्रात्मनस्तैजसस्याप्यभेदः पूर्ववन्मतः ॥३९५॥
एवं सूक्ष्मप्रपञ्चस्य प्रकारः शास्त्रसम्मतः ।

स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेसे व्यष्टि सूक्ष्म शरीर मानते हैं, और जाग्रत् अवस्थाके संस्कारमय होनेसे तैजसको शरीर कहा जाता है ॥ व्यष्टि लिङ्गशरीरका अभिमानी तैजस जाग्रत् कालीन वासनाओंसे कल्पित सूक्ष्म अर्थो-विषयोंको सूक्ष्म

वृत्तियोंद्वारा भोगता है ॥ वन वृक्षके समान समष्टि और व्यष्टि लिङ्गशरीरोंका भी सामान्यसे अभेद ही समझना चाहिए; क्योंकि जाति एकत्वको लेकर भेद कहाँ रह जाता है ? ॥ समष्टि लिङ्गशरीर और व्यष्टि लिङ्गशरीररूपी दोनों उपाधियोंके एक होने पर उन दोनों उपाधियोंके अभिमानी सूत्रात्मा और तैजसका भी पूर्ववत् वन वृक्षके समान अभेद माना गया है ॥३९२-३९५॥

॥ स्थूलप्रपञ्च ॥

अथ स्थूलप्रपञ्चस्य प्रकारः कथ्यते शृणु ॥३९६॥
तान्येव सूक्ष्मभूतानि व्योमादीनि परस्परम् ।
पञ्चीकृतानि स्थूलानि भवन्ति शृणु तत्क्रमम् ॥३९७॥

इसप्रकार शास्त्र सम्मत सूक्ष्म प्रपञ्चका प्रकार कहा गया, अब स्थूल प्रपञ्चका प्रकार कहा जाता है—उसे सुनो ! ॥ वे ही आकाश आदि सूक्ष्मभूत परस्पर पञ्चीकृत होकर स्थूल होते हैं, उस क्रमको सुनो ! ॥३९६-३९७॥

॥ पञ्चीकरण ॥

खादीनां भूतमेवकैकं सममेव द्विधा द्विधा ।
विभज्य भागं तत्राद्यं त्यक्त्वा भागं द्वितीयकम् ॥३९८॥
चतुर्धा सुविभज्याथ तमेकैकं विनिक्षिपेत् ।
चतुर्णां प्रथमे भागे क्रमेण स्वार्धमन्तरा ॥३९९॥

आकाश आदिमें से एक-एक भूतके समान बराबर दो दो भागकर उनमें से पहले भागको छोड़कर दूसरे आधे भागको पुनः चार भागोंमें विभक्तकर अनन्तर अपने आधे भागको छोड़कर अन्य चारोंके प्रथम भागमें क्रमसे उस एक एक भागको दे दे अर्थात् प्रत्येक भूतके समान दो दो भाग हुए, उन दोनों भागोंमें एक भागको छोड़कर अन्य आधे भागके पुनः समानरूपसे चार चार भाग किये गये । अपने आधे भागको छोड़कर आधेके चार भागोंमेंसे एक एक भाग अन्य चार भूतोंके अपने आधे भागमें जोड़ दे, इसप्रकार अपना आधा और आधा अन्य चार भूतोंका होता है ॥३९८-३९९॥

ततो व्योमादिभूतानां भागाः पञ्च भवन्ति ते ।
स्वस्वार्धभागेनान्येभ्यः प्राप्तं भागचतुष्टयम् ॥४००॥
संयोज्य स्थूलतां यान्ति व्योमादीनि यथाक्रमम् ।
अमुष्य पञ्चीकरणस्याप्रामाण्यं न शङ्क्यताम् ॥४०१॥

इससे आकाश आदि भूतोंके पाँच भाग होते हैं, अपने अपने आधे भागके साथ अन्य भूतोंसे प्राप्त अष्टमांश चार भागोंको मिलाकर क्रमानुसार आकाश आदि स्थूल भावको प्राप्त होते हैं । इस पञ्चीकरणमें अप्रमाणताकी शङ्का नहीं करनी चाहिए अर्थात् यह पञ्चीकरण विषयक प्रक्रिया प्रामाणिक है ॥४००-४०१॥

उपलक्षणमस्यापि तत्त्रिवृत्करणश्रुतिः ।
पञ्चानामपि भूतानां श्रूयतेऽन्यत्र संभवः ॥४०२॥

वह त्रिवृत्करण श्रुति भी इस पञ्चीकरणका उपलक्षण समझना चाहिए, **'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति'** (छां० ६।३।२,३) (उस ईश्वररूप देवताने विचार किया कि मैं तेज, जल और अन्नरूप तीन देवताओंमें इस जीवरूपसे प्रवेशकर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) यह श्रुतिवाक्य त्रिवृत्करणमें प्रमाण है । यहाँ तेज आदि तीनोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भाग हुए, उनमेंसे अपना अपना आधा भाग छोड़ शेष आधे भागके दो दो भाग हुए, इसप्रकार आधा भाग अपना और आधे आधे भागके दो भाग—चतुर्थांश चतुर्थांश अन्य का मिलाकर त्रिवृत्करण हो जाता है । यह त्रिवृत्करण पञ्चीकरण का उपलक्षण-बोधक है, जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) यहाँ काकशब्द अपना बोध कराकर दधि घातक अन्य कुत्ता आदिका भी बोध कराता है । **'स्वबोधकत्वे सति इतरबोधकत्वमुपलक्षणत्वम्'** यह उपलक्षणका लक्षण है और **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी'** (तै० २) (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई) इसप्रकार अन्य श्रुतिमें पाँचों भूतोंकी भी उत्पत्ति सुनी जाती है । जब आकाश आदि पाँचोंभूतोंकी उत्पत्ति श्रुति प्रतिपादित है तो उनका पञ्चीकरण भी श्रुति सिद्ध ही है ॥४०२॥

ततः प्रामाणिकं पञ्चीकरणं मन्यतां बुधैः ।
प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादन्यथा क्रियते यदि ॥४०३॥

इसलिए विद्वानों द्वारा पञ्चीकरण प्रक्रिया प्रामाणिक माननी चाहिए, यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके साथ विरोध होगा ॥४०३॥

आकाशवाय्वोर्धर्मस्तु वह्न्यादावुपलभ्यते ।
यथा तथाकाशवाय्वोर्नाग्न्यादेर्धर्म ईक्ष्यते ॥४०४॥
अतोऽप्रामाणिकमिति न किंचिदपि चिन्त्यताम् ।
खांशव्याप्तिश्च खव्याप्तिर्विद्यते पावकादिषु ॥४०५॥
तेनोपलभ्यते शब्दः कारणस्यातिरेकतः ।
तथा नभस्वतो धर्मोऽप्यग्न्यादावुपलभ्यते ॥४०६॥
न तथा विद्यते व्याप्तिर्वह्न्यादेः खनभस्वतोः ।
सूक्ष्मत्वादंशकव्याप्तेरतद्धर्मो नोपलभ्यते ॥४०७॥

जैसे आकाश और वायुके शब्द-स्पर्श आदि धर्म अग्नि, जल आदिमें उपलब्ध होते

हैं वैसे अग्नि, जल और पृथ्वीके रूप, रस, गन्ध आदि धर्म आकाश और वायुमें नहीं देखे जाते। इससे यह पञ्चीकरण अप्रामाणिक है, ऐसा किञ्चिदपि विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि अग्नि आदिमें आकाशांशकी व्याप्ति और आकाशकी व्याप्ति विद्यमान है। इस हेतुसे शब्द कारणके आधिक्यसे वायु आदिमें उपलब्ध होता है, वैसे ही वायुका स्पर्श धर्म अग्नि आदिमें उपलब्ध होता है। परन्तु उसी प्रकार अग्नि आदिकी व्याप्ति आकाश और वायुमें नहीं देखी जाती। अंशक व्याप्ति सूक्ष्म होनेसे उनके धर्म उपलब्ध नहीं होते ॥४०४-४०७॥

कारणस्यानुरूपेण कार्यं सर्वत्र दृश्यते।
तस्मात्प्रामाण्यमेष्टव्यं बुधैः पञ्चीकृतेरपि ॥४०८॥

सर्वत्र कारणके अनुरूप ही कार्य देखा जाता है, इसलिये विद्वानोंको आकाश आदिके पञ्चीकरणमें भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए ॥४०८॥

॥ज्ञानेन्द्रियोंकी सामर्थ्य॥

अनेनोद्भूतगुणकं भूतं वक्ष्येऽवधारय।
शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणोऽनिलः ॥४०९॥
तेजःशब्दस्पर्शरूपैर्गुणवत्कारणं क्रमात्।
आपश्चतुर्गुणः शब्दस्पर्शरूपरसैः क्रमात् ॥४१०॥
एतैश्चतुर्भिर्गन्धेन सह पञ्चगुणा मही।
आकाशांशतया श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति तद्गुणम् ॥४११॥
त्वङ्मारुतांशकतया स्पर्शं गृह्णाति तद्गुणम्।
तेजोंशकतया चक्षू रूपं गृह्णाति तद्गुणम् ॥४१२॥
अबंशकतया जिह्वा रसं गृह्णाति तद्गुणम्।
भूम्यंशकतया घ्राणं गन्धं गृह्णाति तद्गुणम् ॥४१३॥

इस पञ्चीकरणसे उद्भूत-प्रकट गुणवाले भूतोंको कहूँगा, सुनकर निश्चयकर! आकाश केवल शब्द गुणवाला है और वायु शब्द, स्पर्श गुणवाला है। तेज-अग्नि शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुणवाला है, तेज क्रमसे आगे कारण है। इस प्रकार क्रमसे जल शब्द, स्पर्श, रूप और रससे चार गुणवाला है, गन्ध सहित इन चारोंसे पृथिवी पाँच गुणवाली है। आकाश का सात्त्विक अंश होनेसे श्रोत्र आकाशके गुण शब्दको ग्रहण करता है। त्वक् वायुके सात्त्विक अंश होनेसे उसके गुण स्पर्शको ग्रहण करती है। चक्षु अग्निका सात्त्विक अंश है, इससे उसके गुण रूपको ग्रहण करती है, जिह्वा जलका सात्त्विक अंश है, इससे उसके गुण रसको ग्रहण करती है, घ्राण पृथिवीका सात्त्विक अंश है, इससे उसके गुण-गन्धको ग्रहण करती है ॥४०९-४१३॥

॥ कर्मेन्द्रियों की सामर्थ्य ॥

करोति खांशकतया वाक्शब्दोच्चारणक्रियाम् ।
वाय्वंशकतया पादौ गमनादिक्रियापरौ ॥४१४॥
तेजोंशकतया पाणी वह्न्याद्यर्चनतत्परौ ।
जलांशकतयोपस्थो रेतोमूत्रविसर्गकृत् ॥४१५॥

वाणी आकाशका राजस अंश है, अतः शब्दका उच्चारणरूप क्रिया करती है, पैर वायुके राजस अंश हैं, इससे वे गमन क्रिया परक हैं। हाथ तेजका राजस अंश हैं, अतः अग्नि आदिके अर्चन परक हैं, उपस्थ-मूत्रेन्द्रिय जलका राजस अंश होनेसे वीर्य और मूत्रका त्याग करनेवाला है, पृथिवीका राजस अंश होनेसे गुदिया कठिन मलका त्याग करती है।

॥ इन्द्रियोंके देवता ॥

भूम्यंशकतया पायुः कठिनं मलमुत्सृजेत् ।
श्रोत्रस्य दैवतं दिक्स्यात्त्वचो वायुर्दृशो रविः ॥४१६॥
जिह्वाया वरुणो दैवं घ्राणस्य त्वश्विनावुभौ ।
वाचोऽग्निर्हस्तयोरिन्द्रः पादयोस्तु त्रिविक्रमः ॥४१७॥
पायोर्मृत्युरुपस्थस्य त्वधिदैवं प्रजापतिः ।
मनसो दैवतं चन्द्रो बुद्धेर्दैवं बृहस्पतिः ॥४१८॥
रुद्रस्त्वहंकृतेर्दैवं क्षेत्रज्ञश्चित्तदैवतम् ।
दिगाद्या देवताः सर्वाः खादिसत्त्वांशसंभवाः ॥४१९॥

श्रोत्रेन्द्रियका अधिष्ठात्री देवता दिशा, त्वचाका अधिष्ठात्री देवता वायु, और नेत्रका अधिष्ठात्री देवता सूर्य है। जिह्वा-रसनाका अधिष्ठात्री देवता वरुण, घ्राणका अधिष्ठात्री देवता दोनों अश्विनीकुमार, वाणीका अग्नि, हाथोंका इन्द्र, पैरोंका विष्णु देवता है। गुदियाका अधिष्ठात्री देवता यम, उपस्थका अधिदेवता प्रजापति, मनका अधिदेवता चन्द्रमा, बुद्धिका अधिदेवता बृहस्पति है, अहंकारका अधिदेवता रुद्र, चित्तका अधिदैव जीव है, दिशा आदि सब देवता आकाश आदिके सत्त्व अंशसे उत्पन्न हुए हैं ॥४१६-४१९॥

संमिता इन्द्रियस्थानेष्विन्द्रियाणां समन्ततः ।
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति प्राणिकर्मानुरूपतः ॥४२०॥

ये इन्द्रियोंके देवता इन्द्रियोंके स्थानों-गोलकोंमें इन्द्रियोंके साथ रहकर प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार चारों ओरसे इन्द्रियोंका निग्रह और उनपर अनुग्रह करते हैं ॥४२०॥

शरीरकरणग्रामा प्राणाहमधिदेवताः ।
पञ्चैते हेतवः प्रोक्ता निष्पत्तौ सर्वकर्मणाम् ॥४२१॥

शरीर, श्रोत्र आदि इन्द्रिय समूह, प्राण, अपान आदि पाँच प्राण, अहंकार-कर्ता और इनके अधिदेवता, ये पाँच सब कर्मोंकी निष्पत्तिमें हेतु कहे गये हैं ॥४२१॥

॥ आत्माका स्वरूप ॥

कर्मानुरूपेण गुणोदयो भवेद्गुणानुरूपेण मनः प्रवृत्तिः ।
मनोनुवृत्तैरुभयात्मकेन्द्रियैर्निवर्त्यते पुण्यमपुण्यमत्र ॥४२२॥
करोति विज्ञानमयोऽभिमानं कर्ताहमेवेति तदात्मना स्थितः ।
आत्मा तु साक्षी न करोति किंचिन्न कारयत्येव तटस्थवत्सदा ॥४२३॥

जीवोंमें स्वकृत कर्मोंके अनुरूप सत्त्व, रज आदि गुण होते हैं, गुणोंके अनुसार मनकी प्रवृत्ति होती है, मनके अनुसारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा ही इस लोकमें जीव पुण्य और पाप करता है ॥ विज्ञानमयकोश 'मैं ही कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान करता है । स्वस्वरूपमें स्थित आत्मा तो साक्षी है, वह सदा ही उदासीनकी तरह न कुछ करता है और न कुछ किसीसे कराता ही है ॥ ४२२-४२३ ॥

द्रष्टा श्रोता वक्ता कर्ता भोक्ता भवत्यहंकारः ।
स्वयमेतद्विकृतीनां साक्षी निर्लेप एवात्मा ॥४२४॥
आत्मनः साक्षिमात्रत्वं न कर्तृत्वं न भोक्तृता ।
रविवत्प्राणिभिर्लोके क्रियमाणेषु कर्मसु ॥४२५॥
न ह्यर्कः कुरुते कर्म न कारयति जन्तवः ।
स्वस्वभावानुरोधेन वर्तन्ते स्वस्वकर्मसु ॥४२६॥

अहंकार-जीव द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, कर्ता एवं भोक्ता है, स्वयं आत्मा तो इन विकारों का साक्षी है और निर्लेप है लोकमें जीवों द्वारा किये गये कर्मोंका आत्मा सूर्यके समान केवल साक्षीमात्र है, न कर्ता है और न भोक्ता है । सूर्य न स्वयं कर्म करता है और न कराता है, प्राणी अपने अपने स्वभावके अनुसार अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥४२४-४२६॥

तथैव प्रत्यगात्मापि रविवन्निष्क्रियात्मना ।
उदासीनतयैवास्ते देहादीनां प्रवृत्तिषु ॥४२७॥
अज्ञात्वैवं परं तत्त्वं मायामोहितचेतसः ।
स्वात्मन्यारोपयन्त्येतत्कर्तृत्वाद्यन्यगोचरम् ॥४२८॥

वैसे ही प्रत्यगात्मा भी सूर्यके समान निष्क्रियरूपसे देह आदिके व्यापारोंमें उदासीन भावसे ही रहता है ॥ ऐसे परं तत्त्वको न जानकर मायासे मोहित चित्तवाले अविवेकी पुरुष अपने स्वरूपमें अन्य विषयक (अन्यके धर्म) इन कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका आरोप करते हैं ॥४२७-४२८॥

आत्मस्वरूपमविचार्य विमूढबुद्धिरारोपयत्यखिलमेतदनात्मकार्यम् ।
स्वात्मन्यसङ्गचितिनिष्क्रिय एव चन्द्रे दूरस्थमेघकृतधावनवद्भ्रमेण ॥४२९॥

जैसे दूरस्थ मेघों द्वारा दौड़ना भ्रमसे चन्द्रमामें आरोपित होता है, वैसे ही विचार रहित बुद्धिवाले अपने आत्मस्वरूपका विचार न कर असङ्ग, चेतन, निष्क्रिय अपने आत्मामें समस्त इन देह आदि अनात्माके जन्म-मरण-कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि कार्योंको आरोपित करते हैं ॥४२९॥

॥ जगत्की उत्पत्तिका प्रकार ॥

आत्मानात्मविवेकं स्फुटतरमग्रे निवेदयिष्यामः ।
इममाकर्णय विद्वञ्जगदुत्पत्तिप्रकारमावृत्त्या ॥४३०॥

हे विद्वन् ! आत्मा और अनात्माका विवेक स्पष्टरूपसे आगे निवेदन करेंगे । अब पुनः इस जगत्की उत्पत्तिका प्रकार अभ्यासके द्वारा श्रवण कर ॥४३०॥

पञ्चीकृतेभ्यः खादिभ्यो भूतेभ्यस्त्वीक्षयेशितुः ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं ब्रह्माण्डं सचराचरम् ॥४३१॥
व्रीह्याद्योषधयः सर्वा वायुतेजोम्बुभूमयः ।
सर्वेषामप्यभूदन्नं चतुर्विधशरीरिणाम् ॥४३२॥
केचिन्मारुतभोजनाः खलु परे चन्द्रार्कतेजोऽशनाः ।
केचित्तोयकणाशिनोऽपरिमिताः केचित्तु मृद्भक्षकाः ।
केचित्पर्णशिलातृणादनपरा केचित्तु मांसाशिनः ।
केचिद्व्रीहियवान्नभोजनपरा जीवन्त्यमी जन्तवः ॥४३३॥

ईश्वरके ईक्षणसे पञ्चीकृत आकाश आदि पांच भूतों से स्थावर व जंगम सहित यह स्थूल जगत् अच्छी तरह उत्पन्न हुआ ॥ वायु, अग्नि, जल और पृथिवीमय धान आदि सब ओषधियाँ (अन्न) चार प्रकारके सब प्राणियोंका अन्न हुई । (**फलपाकावसानाओषधयः**) फल पकनेपर समाप्त हों वे ओषध कही जाती हैं, जैसे धान आदि ॥ कोई सर्प आदि वायुका भक्षण करनेवाले हैं, दूसरे प्राणी चन्द्रमा और सूर्यके तेजका भक्षण करते हैं, कई एक बहुत प्राणी जलकणोंका भक्षण करते हैं । कोई मृत्तिका भक्षण करने वाले हैं, कई एक प्राणी पत्ता, पत्थर, तृण भक्षण करनेवाले हैं, सिंह आदि कई एक प्राणी मांस भक्षण करनेवाले हैं, कई एक प्राणी धान, यव, अन्न, भोजन करनेवाले हैं, इस प्रकार ये सब प्राणी कुछ खाकर जीवन निर्वाह करते हैं ॥४३१-४३३॥

॥ चार प्रकार के प्राणी ॥

जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाद्याश्चतुर्विधाः ।
स्वस्वकर्मानुरूपेण जातास्तिष्ठन्ति जन्तवः ॥४३४॥

जरायुज, आण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज चार प्रकारके प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार उत्पन्न होकर रहते हैं ॥४३४॥

यत्र जाता जरायुभ्यस्ते नराद्या जरायुजाः ।
अण्डजास्ते स्युरण्डेभ्यो जाता ये विहगादयः ॥४३५॥

इस लोकमें जो गर्भस्थ जरायुसे लपेटे हुए हैं, वे मनुष्य पशु आदि जरायुज कहे जाते हैं, जो पक्षी आदि अण्डोंसे उत्पन्न हुए हैं, वे आण्डज हैं ॥४३५॥

स्वेदाज्जाताः स्वेदजास्ते यूका लूक्षादयोऽपि च ।
भूमिमुद्भिद्य ये जाता उद्भिज्जास्ते द्रुमादयः ॥४३६॥

जो स्वेद-पसीनेसे उत्पन्न हुए हैं वे यूक, जूं, लीख आदि स्वेदज हैं, जो भूमिको फोड़कर उत्पन्न हुए हैं, वे वृक्ष आदि उद्भिज्ज हैं ॥४३६॥

इदं स्थूलवपुर्जातं भौतिकं च चतुर्विधम् ।
सामान्येन समष्टिः स्यादेकधीविषयत्वतः ॥४३७॥

यह चार प्रकारका भौतिक स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ, विराट पुरुषके एक ज्ञानका विषय होनेसे एक जातिरूपसे यह समष्टि कहलाता है ॥४३७॥

एतत्समष्ट्यवच्छिन्नं चैतन्यं फलसंयुतम् ।
प्राहुर्वैश्वानर इति विराडिति च वैदिकाः ॥४३८॥
वैश्वानरो विश्वनरेष्वात्मत्वेनाभिमानतः ।
विराट्स्याद्विविधत्वेन स्वयमेव विराजनात् ॥४३९॥

वैदिक लोग फल सहित (आभास सहित) इस समष्टि स्थूल शरीरावच्छिन्न चैतन्यको 'वैश्वानर' इस नामसे और 'विराट' इस नामसे कहते हैं ॥ ब्रह्माण्डके सब जीवोंमें आत्मरूपसे (ये सब स्थूल शरीर मेरे हैं) अभिमान करनेके कारण वैश्वानर है, स्वयं ही मनुष्य आदि अनेक रूपोंसे विराजमान होनेके कारण विराट् है ॥४३८-४३९॥

चतुर्विधं भूतजातं तत्तज्जातिविशेषतः ।
नैकधीविषयत्वेन पूर्ववद्व्यष्टिरिष्यते ॥४४०॥

जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणी समूह मनुष्य, पक्षी, कीट, वृक्ष आदि भिन्न-भिन्न जातिकी विशेषतासे अनेक बुद्धियोंके विषय होनेके कारण पूर्वके समान व्यष्टि नामसे कहे जाते हैं ॥४४०॥

साभासं व्यष्ट्युपहितं तत्तादात्म्यमुपागतम् ।
चैतन्यं विश्व इत्याहुर्वेदान्तनयकोविदाः ॥४४१॥
विश्वोऽस्मिन्स्थूलदेहेऽत्र स्वाभिमानेन तिष्ठति ।
यतस्ततो विश्व इति नाम्ना सार्थो भवत्ययम् ॥४४२॥

वेदान्तशास्त्र में प्रवीण विद्वान् लोग व्यष्टि, स्थूल शरीर, उपहित व्यष्टि, स्थूल शरीर के साथ एकात्मभावको प्राप्त साभास चैतन्यको 'विश्व' इस नामसे कहते हैं ॥ इस जगत्में

स्वाभिमान करनेसे विश्व नामक जीव इस स्थूल शरीरमें रहता है, इससे यह विश्व इस नामसे सार्थक होता है ॥४४१-४४२॥

॥ स्थूल शरीर अन्नमय कोश है ॥

व्यष्टिरेषास्य विश्वस्य भवति स्थूलविग्रहः ।
उच्यतेऽन्नविकारित्वात्कोशोऽन्नमय इत्ययम् ॥४४३॥
देहोऽयं पितृभुक्तान्नविकाराच्छुक्रशोणितात् ।
जातः प्रवर्धतेऽन्नेन तदभावे विनश्यति ॥४४४॥
तस्मादन्नविकारित्वेनायमन्नमयो मतः ।
आच्छादकत्वादेतस्याप्यसेः कोशवदात्मनः ॥४४५॥

इस विश्वात्माका यह स्थूल शरीर व्यष्टि है। अन्नका विकार होनेसे यह अन्नमय कोश कहा जाता है ॥ माता-पिता के खाये अन्नके परिणामरूप रज, वीर्यसे उत्पन्न हुआ यह शरीर अन्नसे बढ़ता है और अन्नके अभावमें नष्ट होता है ॥ इसलिए अन्नका विकार-परिणाम होनेके कारण यह स्थूल शरीर तलवारके म्यानके समान आत्माका आच्छादन करनेवाला होनेसे अन्नमय कोश माना गया है ॥४४३-४४५॥

आत्मनः स्थूलभोगानामेतदायतनं विदुः ।
शब्दादिविषयान्भुङ्क्ते स्थूलान्स्थूलात्मनि स्थितः ॥४४६॥
बहिरात्मा ततः स्थूलभोगायतनमुच्यते ।
इन्द्रियैरुपनीतानां शब्दादीनामयं स्वयम् ।
देहेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४४७॥

यह स्थूल शरीर आत्माके स्थूल भोगोंका आयतन स्थान समझो। आत्मा स्थूल शरीरमें रहकर स्थूल शब्दादि विषयोंको भोगता है ॥ इससे बहिरात्मा स्थूल शरीर स्थूल भोगोंका आयतन कहा जाता है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा समीप लाये गये शब्दादि विषयोंको यह स्वयं भोगता है, इसलिए विद्वान् लोग देह, इन्द्रिय और मनयुक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं। **'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'** (क० १-३-४) आत्मा = देह। उत्तरार्ध श्लोक इस कठोपनिषद् मन्त्रके अनुरूप है ॥४४६-४४७

एकादशद्वारवतीह देहे सौधे महाराज इवाक्षवर्गैः ।
संसेव्यमानो विषयोपभोगानुपाधिसंस्थो बुभुजेऽयमात्मा ॥४४८॥

जैसे कोई महाराजा अनेक द्वार व खिड़कियोंवाले महलमें बैठकर नाना प्रकारके भोगोंको भोगता है, वैसे यह आत्मा उपाधि से युक्त होकर, पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय और मन इन ग्यारह द्वारवाले शरीररूप महलमें बैठकर इन्द्रियों द्वारा सेवन करता विविध भोगोंको भोगता है ॥४४८॥

ज्ञानेन्द्रियाणि निजदैवतचोदितानि कर्मेन्द्रियाण्यपि तथा मन आदिकानि ।
स्वस्वप्रयोजनविधौ नियतानि सन्ति यत्नेन किंकरजना इव तं भजन्ते ॥४४९॥

अपने-अपने अधिष्ठात्री देवतासे प्रेरित ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं मन आदि भी अपने-अपने प्रयोजनके अनुष्ठानमें नियमसे नियुक्त होकर सेवकके समान यत्नसे उस आत्माकी सेवा करते हैं ॥४४९॥

यत्रोपभुङ्क्ते विषयान्स्थूलानेष महामतिः ।
अहं ममेति सैषास्यावस्था जाग्रदितीर्यते ॥४५०॥

यहाँ बुद्धिमान् यह जीवात्मा स्थूल शरीरमें रहकर जिस अवस्थामें 'यह मैं, यह मेरा' ऐसा अभिमानकर स्थूल विषयोंको भोगता है वह इसकी जाग्रत् अवस्था कही जाती है ॥४५०॥

॥ विश्व और वैश्वानरका अभेद है ॥

एतत्समष्टिव्यष्ट्योश्चोभयोरप्यभिमानिनोः ।
तद्विश्ववैश्वानरयोरभेदः पूर्ववन्मतः ॥४५१॥

इस व्यष्टि और समष्टि स्थूल शरीरका दोनोंके अभिमानी इन विश्व और वैश्वानरका भी तैजस एवं सूत्रात्माके समान अभेद माना गया है ॥४५१॥

स्थूलसूक्ष्मकारणाख्याः प्रपञ्चा ये निरूपिताः ।
ते सर्वेऽपि मिलित्वैकः प्रपञ्चोऽति महान्भवेत् ॥४५२॥
महाप्रपञ्चावच्छिन्नं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ।
विराडादीशपर्यन्तं चैतन्यं चैकमेव तत् ॥४५३॥
यदनाद्यन्तमव्यक्तं चैतन्यमजमक्षरम् ।
महाप्रपञ्चेन सहाविविक्तं सदयोऽग्निवत् ॥४५४॥

स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक जो प्रपञ्चका निरूपण किया गया है, वह सभी मिलकर एक ही महान् प्रपञ्च होगा । महाप्रपञ्चावच्छिन्न विश्व, प्राज्ञ आदिरूप विराट्से लेकर ईश्वर पर्यन्त यह चैतन्य तो एक ही है । जो आदि अन्तरहित, अव्यक्त अजन्मा, अविनाशी चैतन्य महाप्रपञ्चके साथ लोहअग्नि-तप्त अयः पिण्ड (अग्निमें तपे लोहकेगोले) के समान अविविक्तभावसे विद्यमान है ॥४५२-४५४॥

तत्सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यस्य वाक्यस्य पण्डितैः ।
वाच्यार्थ इति निर्णीतं विविक्तं लक्ष्य इत्यपि ॥४५५॥

पण्डित लोगोंने महाप्रपञ्चके साथ अभिन्नरूपसे विद्यमान चैतन्यको 'निश्चय यह सब ब्रह्म है' इस वाक्यका वाच्यार्थ निर्णय किया है और भिन्नरूपसे लक्ष्यका भी निर्णय किया है ॥४५५॥

स्थूलाद्यज्ञानपर्यन्तं कार्यकारणलक्षणम् ।
दृश्यं सर्वमनात्मेति विजानीहि विचक्षणः ॥४५६॥

हे विचारशील ! स्थूल प्रपञ्चसे अज्ञानपर्यन्त कार्यकारणरूप यह सब दृश्य अनात्मा जड़ है, ऐसा जान ॥४५६॥

अन्तःकरणतद्वृत्तिद्रष्टृ नित्यमविक्रियम् ।
चैतन्यं यत्तदात्मेति बुद्धया बुध्यस्व सूक्ष्मया ॥४५७॥

अन्तःकरण और उसकी वृत्तियोंका द्रष्टा, विकाररहित, नित्य जो चैतन्य है वही आत्मा है, ऐसा तू अपनी सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा समझ ॥४५७॥

एष प्रत्यक्स्वप्रकाशो निरंशोऽसङ्गः शुद्धः सर्वदैकस्वभावः ।
नित्याखण्डानन्दरूपो निरीहः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥४५८॥

यह प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश, निरवयव, असङ्ग, शुद्ध सर्वदा एकस्वभाव, नित्य अखण्डानन्दरूप, निष्काम निष्क्रिय, साक्षी चेतन, अद्वितीय और निर्गुण है। **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** (श्वेता०) ऐसी श्रुति भी है ॥४५८॥

नैव प्रत्यग्जायते वर्धते नो किञ्चिन्नापक्षीयते नैव नाशम् ।
आत्मा नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो नासौ हन्यो हन्यमाने शरीरे ॥४५९॥

यह व्यापक आत्मा न उत्पन्न होता है, न बढ़ता है, न कुछ अपक्षीण होता है और न नष्ट होता है, यह आत्मा नित्य, शाश्वत एवं पुराण है, शरीरके हनन होनेपर यह हननके योग्य नहीं है। **'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** (गी०२।२०) में ऐसा ही कहा गया है ॥४५९॥

जन्मास्तित्वविवृद्धयः परिणतिश्चापक्षतिर्नाशनं
दृश्यस्यैव भवन्ति षड्विकृतयो नानाविधा व्याधयः ।
स्थूलत्वादि च नीलताद्यपि मितिर्वर्णाश्रमादिप्रथा
दृश्यन्ते वपुषो न चात्मन इमे तद्विक्रियासाक्षिणः ॥४६०॥

जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय-ह्रास और नाश ये छः विकार और नानाप्रकारके रोग शरीर आदि दृश्य पदार्थमें ही होते हैं। स्थूलता आदि और नीलता आदि भी मापतोल, ब्राह्मण आदि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम आदिकी प्रथा स्थूल शरीरमें ही देखी जाती है, किन्तु देह आदिके विकारोंका साक्षी आत्मामें ये सब दृश्य धर्म नहीं हैं ॥

अस्मिन्नात्मन्यनात्मत्वमनात्मन्यात्मतां पुनः ।
विपरीततयाध्यस्य संसरन्ति विमोहतः ॥४६१॥

इस आत्मामें अनात्म देह आदि और उनके धर्मोंका पुनः अन्तःकरण आदि अनात्मामें आत्मा और उसके धर्मोंका विपरीतभावसे अध्यासकर यह मोहवश जन्म, मरण प्रवाहमें आता है ॥४६१॥

भ्रान्त्या मनुष्योऽहमहं द्विजोऽहं तज्ज्ञोऽहमज्ञोऽहमतीव पापी ।
भ्रष्टोऽस्मि शिष्टोऽस्मि सुखी च दुःखीत्येवं विमुह्यात्मनि कल्पयन्ति ॥४६२॥

मैं मनुष्य हूँ, मैं द्विज हूँ, मैं उसका जाननेवाला हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं अतीव पापी हूँ, मैं भ्रष्ट हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं सुखी हूँ और मैं दुःखी हूँ, इसप्रकार मोहित होकर मूढ़ प्राणी भ्रान्तिसे आत्मामें कल्पना करते हैं ॥४६२॥

॥ अध्यासप्रकरण ॥

अनात्मनो जन्मजरामृतिक्षुधातृष्णासुखक्लेशभयादिधर्मान् ।
विपर्ययेण ह्यतथाविधेऽस्मिन्नारोपयन्त्यात्मनि बुद्धिदोषात् ॥४६३॥

मूढ़ लोग आनात्माके जन्म, जरा, मरण, भूख प्यास, सुख, क्लेश-दुःख, भय आदि धर्मोंको बुद्धिके दोषसे उससे भिन्न प्रकारवाले इस आत्मामें विपरीत भावसे आरोप करते हैं ॥४६३॥

भ्रान्त्या यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन वा ।
दोषेणाप्यणुमात्रेण स न सम्बध्यते क्वचित् ॥४६४॥

भ्रान्तिसे जिस अधिष्ठानमें जिसका अध्यास होता है; उस अध्यासकृत गुण अथवा दोषसे वह अधिष्ठान अणुमात्र भी कहींपर सम्बन्धित नहीं होता । **'यत्र यदध्यासस्तत्कृतेनदोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते'** (ब्र०सू० उपोद्घातभाष्य) ॥४६४॥

किं मरुन्मृगतृष्णाम्बुपूरेणार्द्रत्वमृच्छति ।
दृष्टिसंस्थितपीतेन शङ्खः पीतायते किमु ॥४६५॥

वायु मरुमरीचिकाके जलप्रवाहसे क्या कहीं गीलेपनको प्राप्त होता है ? दृष्टिमें विद्यमान पित्त दोषसे दृष्ट शंख कभी पीला हो जाता है क्या ? ॥४६५॥

शिष्य :—

बालकल्पितनैल्येन व्योम किं मलिनायते ।
प्रत्यगात्मन्यविषयेऽनात्माध्यासः कथं प्रभा ॥४६६॥

अज्ञानीकी कल्पित नीलतासे क्या कभी आकाश मलिन हो जाता है ? हे प्रभो ! इन्द्रियोंके अविषय प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास कैसे होता है ? ॥४६६॥

पुरो दृष्टे हि विषयेऽध्यस्यन्ति विषयान्तरम् ।
तद्दृष्टं शुक्तिरज्ज्वादौ सादृश्याद्यनुबन्धतः ॥४६७॥

क्यों कि लोग सम्मुख इन्द्रिय द्वारा देखे गये पदार्थ (वस्तु) में ही अन्य विषयका अध्यास करते हैं । सादृश्य आदि कारणों से शुक्ति रज्जु आदि में रजत सर्प आदिका अध्यास देखा गया है ॥४६७॥

परत्र पूर्वदृष्टस्यावभासः स्मृतिलक्षणः ।
अध्यासः स कथं स्वामिन् भवेदात्मन्यगोचरे ॥४६८॥

हे स्वामिन्! अन्यमें (अधिष्ठानमें) पूर्वानुभूतका स्मृतिरूप-**स्मर्यमाणके सदृश अवभास-प्रतीति** रूप जो अध्यास है, वह अविषय आत्मामें कैसे होगा? भगवान् शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्र के अपने उपोद्घात भाष्यमें भी **'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास अध्यासः'** ऐसा ही अध्यास का लक्षण किया है ॥४६८॥

नानुभूतः कदाप्यात्माननुभूतस्य वस्तुनः।
सादृश्यं सिध्यति कथमनात्मनि विलक्षणे ॥४६९॥
अनात्मन्यात्मताध्यासः कथमेष समागतः।
निवृत्तिः कथमेतस्य केनोपायेन सिध्यति ॥४७०॥

आत्मा का कदापि अनुभव हुआ नहीं है तो अनुभवके अविषय आत्मरूप वस्तुका अपनेसे अत्यन्त विलक्षण देह आदि अनात्मामें सादृश्य कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि अध्यासकी उत्पत्तिमें सादृश्यको भी हेतु माना गया है। देह आदि अनात्मामें यह आत्मत्व अध्यास कैसे आगया और फिर उसकी निवृत्ति किस उपायसे कैसे सिद्ध होगी? ॥४६९-४७०॥

उपाधियोग उभयोः सम एवेशजीवयोः।
जीवस्यैव कथं बन्धो नेश्वरस्यास्ति तत्कथम् ॥४७१॥
एतत्सर्वं दयादृष्ट्या करामलकवत्स्फुटम्।
प्रतिपादय सर्वज्ञ श्रीगुरो करुणानिधे ॥४७२॥

जीवकी उपाधि अविद्या और ईश्वरकी उपाधि माया है, इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनोंको उपाधिका योग-सम्बन्ध समान ही है, तो फिर जीवको ही संसार बन्धन है वह ईश्वरको क्यों नहीं है? हे सर्वज्ञ करुणानिधे श्रीगुरो! दयादृष्टिसे यह सब हाथमें धरे आंवले अथवा करस्थजलकी तरह स्पष्टरूपसे प्रतिपादन कीजिये ॥४७१-४७२॥

श्रीगुरुः—

न सावयव एकस्य नात्मा विषय इष्यते।
अस्यास्मत्प्रत्ययार्थत्वादपरोक्षाच्च सर्वशः ॥४७३॥

आत्मा सावयव नहीं है, इससे किसी इन्द्रियका विषय इष्ट नहीं है। यह अद्वितीय आत्मा 'अहम्' प्रत्ययका विषय है और सबको अपरोक्ष है। **'यः साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'** (यह साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है) यह श्रुति है। और यह **'न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः'** (ब्र० सू० उपोद्घातभाष्य) है।

प्रसिद्धिरात्मनोऽस्त्येव न कस्यापि च दृश्यते।
प्रत्ययो नाहमस्मीति न ह्यस्ति प्रत्यगात्मनि ॥४७४॥

अतएव आत्माकी प्रसिद्धि तो है ही, किन्तु इन्द्रियोंसे किसीको नहीं दिखाई देता, **'न चक्षुषा गृह्यते'** ऐसी श्रुति है। परन्तु 'मैं नहीं हूँ' ऐसा प्रत्यय-ज्ञान आत्माके विषयमें किसीको नहीं है ॥४७४॥

न कस्यापि स्वसद्भावे प्रमाणमभिकांक्ष्यते ।
प्रमाणानां च प्रामाण्यं यन्मूलं किं नु बोधयेत् ॥४७५॥

अपने अस्तित्वमें किसीको भी प्रमाण की अभिकांक्षा नहीं है । जिसका अवलम्बनकर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें भी प्रमाणता है, अर्थात् जो सब प्रमाणों का मूल है भला उसका बोध कौन कराए ॥४७५॥

मायाकार्यैस्तिरोभूतो नैष आत्मानुभूयते ।
मेघवृन्दैर्यथा भानुस्तथायमहमादिभिः ॥४७६॥

जैसे मेघसमुदायसे आवृत्त-सा सूर्य नेत्रोंका विषय नहीं होता, वैसे ही यह आत्मा 'अहं मम' आदि मायाके कार्योंसे आवृत्त हुआ अनुभवमें नहीं आता ॥४४६॥

पुरस्थ एव विषये वस्तुन्यध्यस्यतामिति ।
नियमो न कृतः सद्भिर्भ्रान्तिरेवात्र कारणम् ॥४७७॥
दृगाद्यविषये व्योम्नि नीलतादि यथाऽबुधाः ।
अध्यस्यन्ति तथैवास्मिन्नात्मन्यपि मतिभ्रमात् ॥४७८॥

सन्मुख देशस्थ विषयरूप वस्तुमें ही अध्यास हो, यह नियम सत्पुरुषों द्वारा नहीं किया गया है, क्योंकि यहाँ इसमें भ्रान्ति ही कारण है । यथा अविवेकी नेत्र आदि इन्द्रियोंके अविषय आकाशमें 'आकाश नीला है' इस प्रकार नीलता आदिका अध्यास करते हैं, वैसे ही बुद्धिके भ्रम—दोषसे आत्मामें भी अध्यास–आरोप करते हैं । उपोद्घात भाष्यमें भली-भाँति लिखा है—"**नचायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति, अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति, एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः ।**" (ब्र० सू० उपोद्घातशाङ्करभाष्य) तो इस प्रकार प्रत्यगात्मामें भी अनात्माका अध्यास विरुद्ध नहीं है, अपितु संगत है । यहाँ आकाशका दृष्टान्त न्याय मतानुसार दिया गया है, क्योंकि वे आकाशको अप्रत्यक्ष मानते हैं ॥४७७॥

अनात्मन्यात्मताध्यासे न सादृश्यमपेक्षते ।
पीतोऽयं शङ्ख इत्यादौ सादृश्यं किमपेक्षितम् ॥४७९॥

अध्यासमें सादृश्य विषयक शङ्काका समाधान करते हैं—देह आदि अनात्मामें आत्मत्वके अध्यासमें सादृश्य अपेक्षित नहीं है, 'यह शंख पीला है' इत्यादि अध्यासमें क्या सादृश्य अपेक्षित है ? ॥४७९॥

निरुपाधिभ्रमेऽत्रस्मिन्नैवापेक्षा प्रदृश्यते ।
सोपाधिष्वेत्र तद्दृष्टं रज्जुसर्पभ्रमादिषु ॥४८०॥

इस लोकमें निरुपाधिक भ्रमोंमें सादृश्यकी अपेक्षा नहीं देखी जाती है, सोपाधिक रज्जुसर्प आदि भ्रमोंमें ही सादृश्य देखा गया है ॥४८०॥

तथापि किंचिद्वक्ष्यामि सादृश्यं शृणु तत्परः ।
अत्यन्तनिर्मलः सूक्ष्म आत्मायमतिभास्वरः ॥४८१॥
बुद्धिस्तथैव सत्त्वात्मा साभासा भास्वराऽमला ।
सांनिध्यादात्मवद्भाति सूर्यवत्स्फटिको यथा ॥४८२॥

तो भी किञ्चित् सादृश्य कहूँगा, जिसे सावधान होकर सुन ! यह आत्मा अत्यन्त निर्मल, अतिसूक्ष्म व अत्यन्त दीप्तिमान् है। वैसे ही बुद्धि भी सत्त्वगुण रूप, चैतन्यके प्रतिबिम्बसे युक्त, दीप्त और मल रहित है, जैसे स्फटिक सूर्यके सान्निध्यसे सूर्यके समान प्रकाशित होता है, वैसे ही बुद्धि-अन्तःकरण भी आत्माके सान्निध्यसे आत्माके समान भासती है ॥४८१-४८२॥

आत्माभासं ततो बुद्धिर्बुद्ध्याभासं ततो मनः ।
अक्षाणि मनआभासान्यक्षाभासमिदं वपुः ।
अत एवात्मताबुद्धिर्देहाक्षादावनात्मनि ॥४८३॥
मूढानां प्रतिबिम्बादौ बालानामिव दृश्यते ।
सादृश्यं विद्यते बुद्धावात्मनोऽध्यासकारणम् ॥४८४॥

अति समीपता व स्वच्छताके कारण बुद्धिरूप दर्पणमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण बुद्धि आत्मप्रतिबिम्बित होती है, आत्मप्रतिबिम्ब युक्त बुद्धिके सामीप्यसे मन बुद्धिके समान भासता है, मनके सामीप्यसे नेत्र आदि इन्द्रिय मनके आभास युक्त हैं, साभास इन्द्रियों की समीपतासे यह स्थूल शरीर भी आभास युक्त होता है। इससे देह नेत्र आदि अनात्मामें आत्मत्व बुद्धि अर्थात् आत्माका तादात्म्याध्यास होता है। जैसे बालकों को प्रतिबिम्ब आदिमें बिम्ब-अपनेपण की बुद्धि दिखाई देती है, वैसे ही अज्ञानियोंको अनात्म-देह आदिमें आत्मत्व बुद्धि होती देखी जाती है, एवं बुद्धिमें आत्माके अध्यासका कारण आत्माका सादृश्य है ॥४८३-४८४॥

अनात्मन्यहमित्येव योऽयमध्यास ईरितः ।
स्यादुत्तरोत्तराध्यासे पूर्वपूर्वस्तु कारणम् ॥४८५॥
सुप्तिमूर्छोत्थितेष्वेव दृष्टः संसारलक्षणः ।
अनादिरेषाविद्यातः संस्कारोऽपि च तादृशः ॥४८६॥

अनात्म-देह, इन्द्रिय आदिमें 'मैं हूँ' इस प्रकार जो अध्यास कहा गया है उत्तरोत्तर अध्यासमें पूर्व पूर्व का अध्यास कारण है। इस तरह अध्यास अनादि है। सुषुप्ति मूर्च्छा से उठे प्राणियोंमें भी संसाररूप अध्यास देखा गया है, इसका हेतुभूत अविद्या अनादि है, इससे उसका संस्कार-वासना भी अनादि है ॥४८५-४८६॥

अध्यासबाधागमनस्य कारणं शृणु प्रवक्ष्यामि समाहितात्मा ।
यस्मादिदं प्राप्तमनर्थजातं जन्माप्ययव्याधिजरादि दुःखम् ॥४८७॥

अभ्यास रूप बाधाके आगमनका कारण कहूँगा, जिसे तू समाहितचित्त हो श्रवण कर ! जिससे यह अनर्थ समुदाय-जन्म, मरण, व्याधि, जरा आदि दुःख प्राप्त होता है ॥४८७॥

आत्मोपाधेरविद्याया अस्ति शक्तिद्वयं महत् ।
विक्षेप आवृतिश्चेति याभ्यां संसार आत्मनः ॥४८८॥
आवृतिस्तमसः शक्तिस्तद्ध्यावरणकारणम् ।
मूलाविद्येति सा प्रोक्ता यया संमोहितं जगत् ॥४८९॥

आत्माकी उपाधि अविद्याकी विक्षेप और आवृति-आवरण नामक दो महान् शक्तियाँ हैं, जिनसे आत्माको संसार होता है। आवृति तमोगुणकी शक्ति-धर्म है, वही आवरणका कारण है। वह मूला अविद्या इस नामसे कही गई है, जिससे यह सारा जगत् संमोहित है। अविद्या भी मूला और तूला भेदसे दो प्रकारकी है, समष्टि अविद्या मूला अविद्या और व्यष्टि अविद्या तूला है, जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है उसकी तूला अविद्या निवृत्त हो जाती है और उसकी मुक्ति होती है, इसलिए एककी मुक्ति होनेसे सबकी मुक्तिका प्रसङ्ग ही नहीं आता ॥४८८-४८९॥

विवेकवानप्यतियौक्तिकोऽपि श्रुतात्मतत्त्वोऽपि च पण्डितोऽपि ।
शक्त्या यया संवृतबोधदृष्टिरात्मानमात्मस्थमिमं न वेद ॥४९०॥

आत्मा और अनात्माके भेदको जानने वाला हो, चाहे युक्तियोंको जाननेवाला तार्किक हो, जिसने आत्मतत्त्वका श्रवण भी किया हो, शास्त्रोंको भली-भाँति जानने वाला पण्डित भी हो, परन्तु जिसकी ज्ञानरूपी दृष्टि जिस आवरण शक्तिसे आच्छादित है, वह अपनी बुद्धिमें स्थित आत्माको नहीं जान सकता है ॥४९०॥

विक्षेपनाम्नी रजसस्तु शक्तिः प्रवृत्तिहेतुः पुरुषस्य नित्यम् ।
स्थूलादिलिङ्गान्तमशेषमेतद्यया सदात्मन्यसदेव सूयते ॥४९१॥

रजोगुणकी विक्षेप नामकी शक्ति पुरुषकी नित्य प्रवृत्तिका हेतु है। जिस शक्तिके द्वारा स्थूलसे लेकर लिंग-बुद्धि पर्यन्त यह सब मिथ्या वस्तु सत्स्वरूप आत्मामें उत्पादित होती है ॥४९१॥

निद्रा यथा पुरुषमप्रमत्तं समावृणोतीयमपि प्रतीचम् ।
तथावृणोत्यावृतिशक्तिरन्तर्विक्षेपशक्तिं परिजृम्भयन्ती ॥४९२॥
शक्त्या महत्यावरणाभिधानया समावृते सत्यमलस्वरूपे ।
पुमाननात्मन्यहमेष एवेत्यात्मत्वबुद्धिं विदधाति मोहात् ॥४९३॥

जैसे निद्रा सावधान पुरुषको अच्छी तरह आवृत्त करती-दबाती है। वैसे ही आवरण शक्ति भी विपेक्ष शक्तिको बढ़ाती हुई प्रत्यगात्माको आवृत करती है ॥ आवरण नामक

महती शक्तिके द्वारा अमल स्वरूप आत्माके आवृत होने पर पुरुष मोह वश देह आदि अनात्मपदार्थोंमें 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार आत्मत्व बुद्धि करता है ॥४९२-४९३॥

यथा प्रसुप्तिप्रतिभासदेहे स्वात्मत्वधीरेष तथा ह्यनात्मनः ।
जन्माप्ययक्षुद्भयतृट्छ्रमादीनारोपयत्यात्मनि तस्य धर्मान् ॥४९४॥

जैसे स्वप्न कालमें प्रतीत देहमें 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि होती है, वैसे ही उस अनात्माके जन्म, मरण, भूख प्यास, भय, श्रमादि धर्मोंको आत्मामें आरोप करता है ॥४९४॥

विक्षेपशक्त्या परिचोद्यमानः करोति कर्माण्युभयात्मकानि ।
भुञ्जान एतत्फलमप्युपात्तं परिभ्रमत्येव भवाम्बुराशौ ॥४९५॥
अध्यासदोषात्समुपागतोऽयं संसारबन्धः प्रबलप्रतीचः ।
यद्योगतः क्लिश्यति गर्भवासजन्माप्ययक्लेशभयैरजस्रम् ॥४९६॥

विक्षेप शक्तिके द्वारा प्रेरित हुआ यह जीवात्मा शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्म करता है और ग्रहण किये फलको भोगता हुआ संसार सागरमें भ्रमता है ॥ जीवको अध्यासके दोषसे यह प्रबल संसार बन्ध प्राप्त हुआ है। जिसके सम्बन्धसे गर्भवास, जन्म, मरण, दुःख, भय द्वारा यह आत्मा निरन्तर क्लेश पाता है ॥४९५-४९६॥

अध्यासो नाम खल्वेष वस्तुनो योऽन्यथाग्रहः ।
स्वाभाविकभ्रान्तिमूलं संसृतेरादिकारणम् ॥४९७॥
सर्वानर्थस्य तद्बीजं योऽन्यथाग्रह आत्मनः ।
ततः संसारसंपातः संततक्लेशलक्षणः ॥४९८॥
अध्यासादेव संसारो नष्टेऽध्यासे न दृश्यते ।
तदेतदुभयं स्पष्टं पश्य त्वं बद्धमुक्तयोः ॥४९९॥

वस्तुमें जो अन्यथाग्रह है वही अध्यास है। (जैसे रज्जु आदिमें सर्पादिज्ञान अध्यास है) यह अध्यास स्वाभाविक भ्रान्तिका मूल और संसारका आदि कारण है। आत्माका जो अन्यथाग्रह-विपरीतज्ञान है, वही समस्त अनर्थोंका बीज है, उससे निरन्तर क्लेशरूप संसार प्राप्त होता है ॥ अध्याससे ही संसार है, और अध्यासके नष्ट होने पर पुनः संसार नहीं दिखाई देता। इससे बद्ध और मुक्त पुरुषोंमें यह संसार और असंसार दोनों तू स्पष्टरूपसे देख ॥४९७-४९९॥

बद्धं प्रवृत्तितो विद्धि मुक्तं विद्धि निवृत्तितः ।
प्रवृत्तिरेव संसारो निवृत्तिर्मुक्तिरिष्यते ॥५००॥

हे शिष्य ! प्रवृत्ति मार्गसे बद्ध समझ और निवृत्तिसे मुक्त जान। अतः प्रवृत्ति ही संसार है और निवृत्ति मोक्ष है, ऐसा विद्वानोंको इष्ट है ॥५००॥

आत्मनः सोऽयमध्यासो मिथ्याज्ञानपुरःसरः ।
असत्कल्पोऽपि संसारं तनुते रज्जुसर्पवत् ॥५०१॥

यह अध्यास मिथ्याज्ञान पूर्वक है अर्थात् मिथ्याज्ञान अध्यासका उपादानकारण है। वह अध्यास रज्जुमें सर्पके समान मिथ्या होकर भी आत्मामें संसारको फैलाता है ॥५०१॥

॥ जीवके समान परमेश्वरको बन्ध नहीं है ॥

उपाधियोगसाम्येऽपि जीववत्परमात्मनः।
उपाधिभेदान्नो बन्धस्तत्कार्यमपि किञ्चन ॥५०२॥

जीवके समान परमात्माको उपाधिका सम्बन्ध समान होने पर भी उपाधिके भेदसे बन्ध-संसार और उसका कार्य उसमें कुछ भी नहीं है ॥५०२॥

अस्योपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना माया यत्र त्वस्य नास्त्यल्पभावः।
सत्त्वस्यैवोत्कृष्टता तेन बन्धो नो विक्षेपस्तत्कृतो लेशमात्रः ॥५०३॥

शुद्ध सत्त्वप्रधान माया इस (ईश्वर) की उपाधि है, जिसमें परिच्छिन्नभाव नहीं है सत्त्वगुणकी उत्कृष्टता है। इससे ईश्वरमें विक्षेप और तत्कृत संसार बन्धन लेशमात्र भी नहीं है ॥५०३॥

सर्वज्ञोऽप्रतिबद्धबोधविभवस्तेनैव देवः स्वयं
मायां स्वामवलम्ब्य निश्चलतया स्वच्छन्दवृत्तिः प्रभुः।
सृष्टिस्थित्यदनप्रवेशयमनव्यापारमात्रेच्छया
कुर्वन्क्रीडति तद्रजस्तम उभे संस्तभ्य शक्त्या स्वया ॥५०४॥

वह सर्वज्ञ है, अप्रतिहत-प्रतिबन्धरहित ज्ञानरूपी वैभववाला है, इसीसेदेव स्वयं व्यापाररहित होनेसे स्वतन्त्रवृत्तिवाले सर्वसमर्थ प्रभु हैं अपनी मायाका अवलम्बनकर अपनी इच्छामात्रसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय, प्रवेश और सबका नियमनरूप व्यापार करते हुए अपनी शक्तिसे रजो एवं तमो इन दोनों गुणोंको वशमें रख लीला करता है ॥५०४॥

तस्मादावृतिविक्षेपौ किञ्चित्कर्तुं न शक्नुतः।
स्वयमेव स्वतन्त्रोऽसौ तत्प्रवृत्तिनिरोधयोः ॥५०५॥
तमेव सा धीकर्मेति श्रुतिर्वक्ति महेशितुः।
निग्रहानुग्रहे शक्तिरावृतिक्षेपयोर्यतः ॥५०६॥

इसलिए आवरण शक्ति और विक्षेपशक्ति कुछ भी करनेको समर्थ नहीं हैं। किन्तु वह स्वयं ईश्वर ही उनकी प्रवृत्ति और निरोध करनेमें स्वतन्त्र है ॥ श्रुति उसीको 'धीकर्म' ऐसा कहती है अर्थात् रजो व तमोगुणको प्रवृत्त करना या रोकना यह ईश्वरका ज्ञान पूर्वक ही कर्म है, क्योंकि आवरण और विक्षेपका निग्रह करना अथवा उनको प्रवृत्त करना यह महेश्वरकी ही शक्ति है ॥५०५-५०६॥

॥ जीवके बन्धनका कारण अज्ञान ॥

रजसस्तमसश्चैव प्राबल्यं सत्त्वहानतः।
जीवोपाधौ तथा जीवे तत्कार्यं बलवत्तरम् ॥५०७॥

तेन बन्धोऽस्य जीवस्य संसारोऽपि च तत्कृतः।
संप्राप्तः सर्वदा यत्र दुःखं भूयः स ईक्षते ॥५०८॥

जीवकी उपाधि मलिन सत्त्वप्रधान अविद्यामें तथा जीवमें सत्त्वगुणकी कमीसे रजो एवं तमोगुणकी प्रबलता होती है, इससे इन दोनों गुणोंके कार्यकी अधिकता दिखाई देती है॥ इससे इस जीवको बन्धन है और गुणों कृत संसार भी प्राप्त है, इससे वह जीव संसारमें सर्वदा-वार-वार अधिक दुःखका अनुभव करता है ॥५०७-५०८॥

एतस्य संसृतेर्हेतुरध्यासोऽर्थविपर्ययः। अध्यासमूलमज्ञानमाहुरावृतिलक्षणम् ॥

अर्थविपर्यय-पदार्थका अन्यथाभावरूप अध्यास इस जन्म-मरणात्मक संसारका हेतु है, पण्डित लोग आवरणरूप अज्ञान अध्यासका मूल कारण कहते हैं ॥५०९॥

॥ ज्ञानसे ही अज्ञान निवृत्त होता है ॥

अज्ञानस्य निवृत्तिस्तु ज्ञानेनैव न कर्मणा।
अविरोधितया कर्म नैवाज्ञानस्य बाधकम् ॥५१०॥

अज्ञानकी निवृत्ति तो जीव ब्रह्मैक्य ज्ञानसे ही होती है, कर्मसे नहीं, क्योंकि अविरोधी होनेसे कर्म अज्ञानका बाधक-निवर्त्तक नहीं है ॥५१०॥

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते।
कर्मणः कार्यमेवैषा जन्ममृत्युपरम्परा ॥५११॥
नैतस्मात्कर्मणः कार्यमन्यदस्ति विलक्षणम्।
अज्ञानकार्यं तत्कर्म यतोऽज्ञानेन वर्धते ॥५१२॥

कर्मसे जीव उत्पन्न (नवीन शरीरका ग्रहण) होता है और कर्मसे विलय होता है, अतएव यह जन्म-मरण परम्परा कर्मका ही फल है। कर्मका इससे जन्म-मरण परम्परासे विलक्षण भिन्न-और (मुक्तिरूप) कार्य नहीं है, वह कर्म अज्ञानका कार्य है, क्योंकि अज्ञानसे बढ़ता है ॥६११-६१२॥

यद्येन वर्धते तेन नाशस्तस्य न सिध्यति।
येन यस्य सहावस्था निरोधाय न कल्पते ॥५१३॥

जो वस्तु जिससे बढ़ती है उससे उसका नाश सिद्ध नहीं होता, जिसके साथ जिसकी सहावस्था-साथ अवस्थित हो वह उसके विरोधके लिए समर्थ नहीं है अर्थात् कर्मकी उत्पत्ति अज्ञानसे होती है, शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप आत्मामें अज्ञानसे ब्राह्मणत्व आदि धर्मोंका आरोपकर यह पुरुष ब्राह्मण आदिके अनुरूप विहित कर्मोंको करता और उसका फल भोगता है ॥५१३॥

नाशकत्वं तदुभयोः को नु कल्पयितुं क्षमः।
सर्वं कर्माविरोध्येव यतोऽज्ञानस्य सर्वदा ॥५१४॥

ततोऽज्ञानस्य विच्छित्तिः कर्मणा नैव सिध्यति ।
यस्य प्रध्वस्तजनको यत्संयोगोऽस्ति तत्क्षणे ॥५१५॥
तयोरेव विरोधित्वं युक्तं भिन्नस्वभावयोः ।
तमःप्रकाशयोर्यद्वत्परस्परविरोधिता ॥५१६॥

कर्म और अज्ञान इन दोनोंमें कर्म अज्ञान का नाशक है, ऐसी कौन कल्पनाकर सकता है ? क्योंकि समग्र कर्म सर्वदा अज्ञानका अविरोधी ही है। इससे कर्मके द्वारा अज्ञानका नाश कदापि सिद्ध नहीं होता ॥ उस क्षण में जिसका संयोग जिसके नाशका जनक है, वहाँ भिन्न-भिन्न स्वभाववाले उन दोनोंका ही विरोधित्व युक्त है, जैसे अन्धकार और प्रकाश में विरोधिता है ॥५१४-५१६॥

अज्ञानज्ञानयोस्तद्वदुभयोरेव दृश्यते ।
न ज्ञानेन विना नाशस्तस्य केनापि सिध्यति ॥५१७॥
तस्मादज्ञानविच्छित्यै ज्ञानं सम्पादयेत्सुधीः ।
आत्मानात्मविवेकेन ज्ञानं सिध्यति नान्यथा ॥५१८॥
युक्त्याऽऽत्मानात्मनोस्तस्मात्करणीयं विवेचनम् ।
अनात्मन्यात्मताबुद्धिग्रंन्थिर्येन विदीर्यते ॥५१९॥

अन्धकार और प्रकाश के समान अज्ञान और ज्ञान दोनोंका ही विरोध देखा जाता है, ज्ञानके विना अन्य किसीसे भी अज्ञानका नाश सिद्ध नहीं होता। इसलिए बुद्धिमान् अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञानका सम्पादन करे। वह तत्त्वज्ञान आत्मा और अनात्म-पदार्थके विवेकसे सिद्ध होता है अन्य प्रकारसे नहीं ॥ इसलिए तत्त्वज्ञानको पाने के लिए युक्तिसे आत्मा और अनात्माका विवेचन करना चाहिए। जिस विवेचनसे देह आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिरूप ग्रन्थि विदीर्ण हो (खुल) जाती है ॥५१७-५१९॥

आत्मानात्मविवेकार्थं विवादोऽयं निरूप्यते ।
येनात्मानात्मनोस्तत्त्वं विविक्तं प्रस्फुटायते ॥५२०॥

आत्मा और अनात्माके विवेकके लिए गुरु शिष्य संवादरूप इस विवादका निरूपण किया जाता है। जिससे आत्मा और अनात्माका यथार्थ स्वरूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट हो जाता है ॥५२०॥

मूढा अश्रुतवेदान्ताः स्वयं पण्डितमानिनः ।
ईश प्रसादरहिताः सद्गुरोश्च बहिर्मुखाः ॥५२१॥

वेदान्तशास्त्रके श्रवणसे रहित, स्वयं अपने आपको पण्डित माननेवाले, ईश्वरानुग्रह शून्य और सद्गुरुसे बहिर्मुख अविवेकीजन विवाद करते हैं। उस प्रकारको कहूँगा, आदर सहित सुन ॥५२१॥

॥ पुत्रात्मवाद ॥

विवदन्ति प्रकारं तं शृणु वक्ष्यामि सादरम् ।
अत्यन्तपामरः कश्चित्पुत्र आत्मेति मन्यते ॥५२२॥
आत्मनीव स्वपुत्रेऽपि प्रबलप्रीतिदर्शनात् ।
पुत्रे तु पुष्टे पुष्टोऽहं नष्टे नष्टोऽहमित्यतः ॥५२३॥
अनुभूतिबलाच्चापि युक्तितोऽपि श्रुतेरपि ।
आत्मा वै पुत्रनामासीत्येवं च वदति श्रुतिः ॥५२४॥

कोई अत्यन्त पामर पुरुष 'पुत्र आत्मा है' ऐसा मानता है, क्योंकि आत्माके समान अपने पुत्रमें भी प्रबल प्रीति देखने में आती है, पुत्रके पुष्ट होने पर मैं पुष्ट हुआ और पुत्रके नष्ट होने पर मैं नष्ट हो गया, इस प्रकार अनुभवके बलसे युक्तिसे और श्रुतिके आधार पर भी पुत्रको आत्मा कहता है । **'आत्मा वै पुत्रनामासि'** (पुत्र नामवाला आत्मा है) ऐसा श्रुति कहती है ॥५२२-५२४॥

दीपाद्दीपो यथा तद्वत्पितुः पुत्रः प्रजायते ।
पितुर्गुणानां तनये बीजाङ्कुरवदीक्षणात् ॥५२५॥

जैसे दीपसे दीप प्रज्वलित होता है, वैसे ही पितासे पुत्र उत्पन्न होता है । बीजाङ्कुरके समान पिताके गुण पुत्रमें देखे जाते हैं । इससे 'यह पुत्र आत्मा है' ऐसा अत्यन्त भ्रान्तिवाला पुरुष मानता है ॥५२५॥

॥ देहात्मवाद ॥

अतोऽयं पुत्र आत्मेति मन्यते भ्रान्तिमत्तमः ।
तन्मतं दूषयत्यन्यः पुत्र आत्मा कथं त्विति ॥५२६॥
प्रीतिमात्रात्कथं पुत्र आत्मा भवितुमर्हति ।
अन्यत्रापीक्ष्यते प्रीतिः क्षेत्रपात्रधनादिषु ॥५२७॥

अन्य कोई देह आत्मवादी उसके मतको दूषित करता है–पुत्र आत्मा कैसे हो सकता है ? प्रीतिमात्रसे पुत्र आत्मा कैसे हो सकता है ? क्योंकि पुत्रसे भिन्न भूमि, पात्र, धन आदिमें भी प्रेम देखनेमें आता है ॥५२६-५२७॥

पुत्राद्विशिष्टा देहेऽस्मिन्प्राणिनां प्रीतिरिष्यते ।
प्रदीप्ते भवने पुत्रं त्यक्त्वा जन्तुः पलायते ॥५२८॥
तं विक्रीणाति देहार्थं प्रतिकूलं निहन्ति च ।
तस्मादात्मा तु तनयो न भवेच्च कदाचन ॥५२९॥

इस देहमें प्राणियोंकी पुत्रसे भी अधिक प्रीति मानी जाती है । कारण कि घरके जलने

पर प्राणी पुत्रको छोड़कर भाग जाता है ।। मनुष्य अपनी देहकी रक्षाके लिए उस पुत्रको बेच देता है और अपनेसे प्रतिकूल व्यवहार करने वाले पुत्रको मार देते हैं, इससे पुत्र कदाचिदपि आत्मा नहीं हो सकता है ।।५२८-५२९।।

गुणरूपादिसादृश्यं दीपवन्न सुते पितुः ।
अव्यङ्गाज्जायते व्यङ्गः सुगुणादपि दुर्गुणः ।।५३०।।

जैसे दीपसे प्रज्वलित अन्य दीपमें प्रथम दीपके समान प्रकाश आदि होते हैं, वैसे पुत्रमें पिताके गुण, रूप आदि सादृश्य नहीं होता । क्योंकि पूर्णाङ्ग पितासे काणा, बधिर आदि अङ्गहीन, श्रेष्ठ गुणोंवाले पितासे दुर्गुणी पुत्र उत्पन्न होता है ।।५३०।।

आभासमात्रास्ताः सर्वा युक्तयोऽप्युक्तयोऽपि च ।
पुत्रस्य पितृवद्गेहे सर्वकार्येषु वस्तुषु ।।५३१।।
स्वामित्वद्योतनायास्मिन्नात्मत्वमुपचर्यते ।
श्रुत्या तु मुख्यया वृत्त्या पुत्र आत्मेति नोच्यते ।।५३२।।

पुत्र आत्मवादी द्वारा दी गई युक्तियाँ और वाक्यप्रमाण ये सभी आभासमात्र हैं अर्थात् जो युक्ति न होकर युक्तिके समान और वाक्य न होकर वाक्यके समान प्रतीत हों वे सब युक्त्याभास और वाक्याभास होते हैं, इनसे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती । घरमें सब कार्य वस्तुओंमें पिताके समान पुत्रका स्वामित्व द्योतन (सूचित) करनेके लिए पुत्रमें **'आत्मा वै पुत्रनामासि'** आत्मत्वका उपचार-गौण प्रयोग किया जाता है । इस श्रुतिसे भी 'पुत्र आत्मा है' ऐसा मुख्यवृत्तिसे नहीं कहा जाता है किन्तु गौणवृत्तिसे ।।५३१-५३२।।

औपचारिकमात्मत्वं पुत्रे तस्मान्न मुख्यतः ।
अहंपदप्रत्ययार्थो देह एव न चेतरः ।।५३३।।
प्रत्यक्षः सर्वजन्तूनां देहोऽहमिति निश्चयः ।
एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्यपि च श्रुतिः ।।५३४।।
पुरुषत्वं वदत्यस्य स्वात्मा हि पुरुषस्ततः ।
आत्मायं देह एवेति चार्वाकेण विनिश्चितम् ।।५३५।।

इसलिए पुत्रमें आत्मत्व गौण है मुख्यवृत्तिसे नहीं, 'अहम्' शब्दके ज्ञानका विषय देह ही है, पुत्र आदि नहीं । 'मैं देह हूँ' ऐसा सब प्राणियोंको प्रत्यक्ष निश्चय है, इसमें 'एष पुरुषो अन्नरसमयः' (तै. २।१) 'यह शरीर अन्नरसमय—अन्नका विकार है' ऐसी श्रुति भी है ।। श्रुति देहको ही पुरुष शब्दसे कहती है, इससे देह ही अपना आत्मा-स्वरूप है, इसलिए यह देह ही आत्मा है, ऐसा चार्वाकोंका निश्चय है ।।५३३-५३५।।

।। इन्द्रियात्मवाद ।।

तन्मतं दूषयत्यन्योऽप्यहमानः पृथग्जनः ।
देह आत्मा कथं नु स्यात्परतन्त्रो ह्यचेतनः ।।५३६।।

इन्द्रियैश्चाल्यमानोऽयं चेष्टते न स्वतः क्वचित् ।
आश्रयश्चक्षुरादीनां गृहवद्गृहमेधिनाम् ॥५३७॥
बाल्यादिनानावस्थावाञ्शुक्लशोणितसंभवः ।
अतः कदापि देहस्य नात्मत्वमुपपद्यते ॥५३८॥

देहात्मवादको न सहन करता हुआ कोई अन्य-इन्द्रियात्मवादी पृथग्जन-विद्वानोंसे भिन्न उस मतको दूषित करता है—देह आत्मा कैसे हो सकती है ? क्योंकि वह जड़ और इन्द्रियोंके अधीन है ॥ यह शरीर इन्द्रियोंद्वारा चलाया हुआ चेष्टा करता है, स्वयं कहीं भी कुछ नहीं करता, जैसे गृहस्वामियोंका घर आश्रय है, वैसे ही यह देह चक्षु आदि इन्द्रियोंका आश्रयमात्र है ॥ यह शरीर बाल्य आदि अनेक अवस्थाओं वाला और रज वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए देह कदापि आत्मा नहीं हो सकती है ॥५३६-५३८॥

बधिरोऽहं च काणोऽहं मूक इत्यनुभूतितः ।
इन्द्रियाणि भवन्त्यात्मा येषामस्त्यर्थवेदनम् ॥५३९॥

मैं बधिर हूँ, मैं काणा हूँ, मैं गूंगा हूँ, इस प्रत्यक्ष अनुभूतिसे इन्द्रियाँ आत्मा हैं, क्योंकि इन्द्रियोंको विषयोंका ज्ञान होता है ॥५३९॥

इन्द्रियाणां चेतनत्वं देहे प्राणाः प्रजापतिम् ।
एतमेत्येत्यूचुरिति श्रुत्यैव प्रतिपाद्यते ॥५४०॥

'प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्यूचुः' (छां. ५. १. ७.) विवाद करते प्राण-इन्द्रिय पिता प्रजापतिके पास जाकर बोले' इस श्रुतिसे भी देहमें स्थित इन्द्रियोंमें चेतनत्व प्रतिपन्न-युक्त होता है ॥५४०॥

यतस्तस्मादिन्द्रियाणां युक्तमात्मत्वमित्यमुम् ।
निश्चयं दूषयत्यन्योऽसहमानः पृथग्जनः ॥५४१॥

इससे इन्द्रियोंका आत्मा होना युक्त है । अन्य मूढजन इस बातको न सहकर इस इन्द्रियात्मनिश्चयको दूषित करता है ॥५४१॥

॥ प्राणात्मवाद ॥

इन्द्रियाणि कथं त्वात्मा करणानि कुठारवत् ।
करणस्य कुठारादेश्चेतनत्वं न दृश्यते ॥५४२॥
श्रुत्याधिदेवतामेव इन्द्रियेषूपचर्यते ।
न तु साक्षादिन्द्रियाणां चेतनत्वमुदीर्यते ॥५४३॥
अचेतनस्य दीपादेरर्थाभासकता यथा ।
तथैव चक्षुरादीनां जडानामपि सिध्यति ॥५४४॥

इन्द्रियाँ आत्मा कैसे हो सकती हैं, क्योंकि वे तो वृक्ष काटनेवाले कुठारके समान करण हैं, कुठार आदि करण का चेतन होना कहीं भी दिखाई नहीं देता श्रुतिके द्वारा इन्द्रियोंका अधिष्ठात्री देवतावाद इन्द्रियोंमें गौणरूपसे कहा गया है, श्रुतिसे साक्षात् मुख्यरूपसे इन्द्रियोंमें चेतनत्व नहीं कहा जाता है ॥ इन्द्रियोंको विषयोंका ज्ञान होता है, इससे इन्द्रिय आत्मा हैं। अब इस उक्त युक्ति में दोष दिखाते हैं—जैसे अचेतन दीपक आदि पदार्थोंके प्रकाशक हैं, वैसे ही जड़ इन्द्रियाँ भी अर्थोंके प्रकाशक सिद्ध हो सकती हैं ॥५४२-५४४॥

इन्द्रियाणां चेष्टयिता प्राणोऽयं पञ्चवृत्तिकः ।
सर्वावस्थास्ववस्थावान्सोऽयमात्मत्वमर्हति ।
अहं क्षुधावांस्तृष्णावानित्याद्यनुभवादपि ॥५४५॥

प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पाँच वृत्तियोंवाला यह मुख्य प्राण इन्द्रियोंको चेष्टा कराता है, बाल्य आदि सब अवस्थाओंमें अवस्थावाला मैं भूखा, मैं प्यासा इत्यादि अनुभवसे भी वह यह प्राण ही आत्मा हो सकता है ॥५४५॥

श्रुत्यान्योऽन्तर आत्मा प्राणमय इतीर्यते यस्मात् ।
तस्मात्प्राणस्यात्मत्वं युक्तं नो करणसंज्ञानां क्वापि ॥५४६॥

क्योंकि **'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'** (तै० २।२) (अन्नमयके अन्तर और उससे भिन्न प्राणमय आत्मा है) ऐसा श्रुति कहती है। इससे प्राण आत्मा होना युक्त है, किन्तु करण संज्ञावाले इन्द्रिय आदि कहीं भी आत्मा नहीं हो सकते ॥५४६॥

॥ मन आत्मवाद ॥

इति निश्चयमेतस्य दूषयत्यपरो जडः ।
भवत्यात्मा कथं प्राणो वायुरेवैष आन्तरः ॥५४७॥

इसप्रकार अन्य मूढ मनुष्य प्राण आत्मा है, इस निश्चयको दूषित करता है—भीतरका वायुरूप यह प्राण आत्मा कैसे हो सकता है ? ॥५४७॥

बहिर्यात्यन्तरायाति भस्त्रिकावायुवन्मुहुः ।
न हितं वाहितं वा स्वमन्यद्वावेद किंचन ॥५४८॥
जडस्वभावश्चपलः कर्मयुक्तश्च सर्वदा ।
प्राणस्य भानं मनसि स्थिते सुप्ते न दृश्यते ॥५४९॥
मनस्तु सर्वं जानाति सर्ववेदनकारणम् ।
यत्तस्मान्मन एवात्मा प्राणस्तु न कदाचन ॥५५०॥

धौंकनीमें वायुके समान स्वांस वार-वार शरीरसे बाहर जाता है और भीतर आता है। वह अपना अथवा अन्यका किञ्चिदपि हित या अहित नहीं जानता ॥ प्राण जड़स्वभाव,

चपल और सर्वदा क्रियाशील है। मनके विद्यमान होनेपर प्राणका भान देखनेमें आता है, परन्तु मनके सुप्त होने पर प्राणका भान नहीं देखा जाता, इस अन्वय-व्यतिरेकसे ज्ञान मनका धर्म है प्राणका नहीं। इससे मन आत्मा है, प्राण नहीं। परन्तु मन तो सबको जानता है, क्योंकि वह सब विषयोंके ज्ञानका कारण है। इसलिए मन ही आत्मा है, प्राण तो कदापि आत्मा नहीं है ॥५४८-५५०॥

संकल्पवानहं चिन्तावानहं च विकल्पवान्।
इत्याद्यनुभवादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः ॥५५१॥
इत्यादिश्रुतिसद्भावाद्युक्ता मनस आत्मता।
इति निश्चयमेतस्य दूषयत्यपरो जडः ॥५५२॥

मैं सङ्कल्पवाला हूँ अर्थात् सङ्कल्प करता हूँ, मैं विचारवाला हूँ, यह है कि नहीं, इसप्रकार विकल्पवाला हूँ, इत्यादि अनुभवसे और **'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'** (तै० २।३) (प्राणमयके अन्तर और उससे भिन्न मनोमय आत्मा है) इत्यादि श्रुतिके विद्यमान होनेसे मनका आत्मा होना युक्त है। परन्तु अन्य मूढबुद्धि मन आत्मवादीके इस निश्चयको दूषित करता है ॥५५.-५५२॥

॥ बुद्धि-विज्ञान आत्मवाद ॥

कथं मनस आत्मत्वं करणस्य दृगादिवत्।
कर्तृप्रयोज्यं करणं न स्वयं तु प्रवर्तते ॥५५३॥
करणप्रयोक्ता यः कर्ता तस्यैवात्मत्वमर्हति।
आत्मा स्वतन्त्रः पुरुषो न प्रयोज्यः कदाचन ॥५५४॥
अहं कर्तास्म्यहं भोक्ता सुखीत्यनुभवादपि।
बुद्धिरात्मा भवत्येव बुद्धिधर्मो ह्यहंकृतिः ॥५५५॥

नेत्र आदि इन्द्रियोंके समान मन भी करण होनेसे आत्मा कैसे हो सकता है? करण तो कर्ता द्वारा प्रयोज्य—कर्ममें लगाया जाता है, वह स्वयं प्रवृत्त नहीं होता॥ करणोंका प्रयोक्ता जो कर्ता है वही आत्मा हो सकता है, स्वतन्त्र पुरुष आत्मा है वह कभी भी किसीसे प्रयोज्य नहीं है॥ 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ताहूँ मैं सुखो हूँ, इसप्रकारअनुभवसे भी बुद्धि ही आत्मा होती है, क्योंकि उक्त अहंकार बुद्धिका धर्म है ॥५५३-५५५॥

अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय इति वदति निगमः।
मनसोऽपि च भिन्नं विज्ञानमयं कर्तृरूपमात्मानम् ॥५५६॥

'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २,४) (मनोमयकोशके अन्तर और उससे भिन्न विज्ञानमय आत्मा है) इसप्रकार श्रुति मनसे भी भिन्न विज्ञानमय कर्तृरूप आत्मा को कहती है ॥५५६॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
इत्यस्य कर्तृता श्रुत्या मुखतः प्रतिपाद्यते।
तस्माद्युक्तात्मता बुद्धेरिति बौद्धेन निश्चितम् ॥५५७॥

'**विज्ञानं यज्ञं तनुते**' (तै० २,५) 'विज्ञान-बुद्धि यज्ञका विस्तार करता है, कर्मोंका भी विस्तार करता है' इसप्रकार श्रुति मुख्यरूपसे विज्ञानको कर्ता प्रतिपादित करती है। इससे बुद्धिका आत्मा होना युक्त है, ऐसा बौद्धने निश्चय किया है ॥५५७॥

॥ अज्ञान आत्मवाद ॥

प्राभाकरस्तार्किकश्च तावुभावप्यमर्षया।
तन्निश्चयं दूषयतो बुद्धिरात्मा कथं न्विति ॥५५८॥

प्रभाकरके अनुयायी और नैयायिक वे दोनों भी असहिष्णुतासे उसके निश्चयको दूषित करते हैं—बुद्धि आत्मा कैसे हो सकती है ? ॥५५८॥

बुद्धेरज्ञानकार्यत्वाद्विनाशित्वात्प्रतिक्षणम् ।
बुद्ध्यादीनां च सर्वेषामज्ञाने लयदर्शनात् ॥५५९॥
अज्ञोऽहमित्यनुभवादास्त्रीबालादिगोचरात् ।
भवत्यज्ञानमेवात्मा न तु बुद्धिः कदाचन ॥५६०॥

क्योंकि बुद्धि अज्ञानका कार्य है और प्रतिक्षण विनाशी है, सुषुप्ति आदिमें बुद्धि आदि सबका अज्ञानमें लय देखनेमें आता है, 'मैं अज्ञ हूँ' स्त्रीसे बालक आदि पर्यन्त गोचर अनुभवसे अज्ञान ही आत्मा सिद्ध होता है, परन्तु बुद्धि तो कभी भी आत्मा नहीं हो सकती ॥५५९-५६०॥

विज्ञानमयादन्यं त्वानन्दमयं परं तथात्मानम्।
अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय इति वदति वेदोऽपि ॥५६१॥

'**अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः**' (तै० २।५) (विज्ञानमयके अन्तर और उससे भिन्न आनन्दमय आत्मा है) इसप्रकार श्रुति भी विज्ञानमयसे भिन्न आनन्दमय एवं श्रेष्ठ आत्माको कहती है ॥५६१॥

दुःखप्रत्ययशून्यत्वादनन्दमयता मता।
अज्ञाने सकलं सुप्तौ बुद्ध्यादि प्रविलीयते ॥५६२॥

क्योंकि दुःखकी प्रतीतिसे रहित होनेके कारण आनन्दमयता मानी गई है। सुषुप्तिमें बुद्धि आदि सबका अज्ञानमें लय होता है। तात्पर्य यह है—अज्ञानका अर्थ है ज्ञानाभाव, परन्तु श्रुतिने आत्माको आनन्दमय कहा है, अतः अज्ञान और आनन्दमय एक कैसे हो सकते हैं ? अज्ञानको आत्मा माननेवालोंके मतमें इसका उत्तर यह है—श्रुतिमें जिस आनन्दका वर्णन है, उसका अर्थ है दुःखका अभाव। उसके मतमें मोक्ष अथवा

सुषुप्तिमें आनन्द नहीं है किन्तु दुःख नहीं होता, इसलिए दुःखाभावमें आनन्द शब्दका गौण प्रयोग किया जाता है। जैसे 'भाराद्यपगमे सुख्यहं संवृत्तः' 'भार आदिके हटनेपर मैं सुखी हो गया' इस लोकमें दुःखके अभावमें सुख शब्दका गौण-प्रयोग किया जाता है, इसलिए आनन्द शब्दका अर्थ दुःख ज्ञानका अभाव है ॥५६२॥

दुःखिनोऽपि सुषुप्तौ त्वानन्दमयता ततः।
सुप्तौ किंचिन्न जानामीत्यनुभूतिश्च दृश्यते ॥५६३॥
यत एवमतो युक्ता ह्यज्ञानस्यात्मता ध्रुवम्।
इति तन्निश्चयं भाट्टा दूषयन्ति स्वयुक्तिभिः ॥५६४॥

इससे दुःखी प्राणीको भी सुषुप्तिमें आनन्दमयता होती है। सुषुप्ति कालमें मैं कुछ नहीं जानता, ऐसी अनुभूति देखी जाती है॥ जब ऐसा है तो इससे अज्ञानका आत्मत्व निश्चय युक्त ही है। इस प्रकार इनके निश्चयको भी कुमारिलभट्ट मतवाले अपनी युक्तियोंसे दूषित करते हैं ॥५६३-५६४॥

॥ ज्ञानाज्ञानात्मवाद ॥

कथमज्ञानमेवात्मा ज्ञानं चाप्युपलभ्यते।
ज्ञानाभावे कथं विद्युरज्ञोऽहमिति चाज्ञताम् ॥
अस्वाप्सं सुखमेवाहं न जानाम्यत्र किंचन ॥५६५॥
इत्यज्ञानमपि ज्ञानं प्रबुद्धेषु प्रदृश्यते।
प्रज्ञानघन एवानन्दमय इत्यपि श्रुतिः ॥५६६॥
प्रब्रवीत्युभयात्मत्वमात्मनः स्वयमेव सा।
आत्माऽतश्चिज्जडतनुः खद्योत इव संमतः ॥५६७॥

आत्मा ज्ञान और अज्ञान (जड़-चेतन) उभयरूप माननेवाले भट्ट मतानुयायी युक्ति देते हैं—अज्ञान ही आत्मा कैसे हो सकता है जबकि ज्ञान भी उपलब्ध होता है, क्योंकि ज्ञानके न होनेपर 'मैं अज्ञ हूँ' यह और आत्मत्वको कैसे जानेगा, 'मैं सुख पूर्वक सोया' इस विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता। इसप्रकार जागे मनुष्योंमें ज्ञान और अज्ञान भी देखा जाता है। 'प्रज्ञानघन ही आनन्दमय है' ऐसा वह श्रुति भी स्वयं ही आत्माको उभयात्मक कहती है। इससे आत्मा खद्योतके समान जड़ चेतन उभयरूप माना गया है अर्थात् प्रज्ञानघन शब्द से चेतन और आनन्दमय शब्दसे जड़ और जागनेपर 'सुखसे सोया' इससे ज्ञान और 'कुछ नहीं जानता' इससे अज्ञान, इस प्रकार आत्मा ज्ञान और अज्ञान उभयरूप है, केवल अज्ञानरूप नहीं है, यह सिद्ध होता है॥

॥ शून्य आत्मवाद ॥

न केवलाज्ञानमयो घटकुड्यादिवज्जडः।
इति निश्चयमेतेषां दूषयत्यपरो जडः ॥५६८॥

केवल अज्ञानमय आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर घट, दीवार आदिके समान जड़ होगा। उनके इस निश्चयको अन्य जड़ बुद्धि दूषित करता है ॥५६८॥

ज्ञानाज्ञानमयस्त्वात्मा कथं भवितुमर्हति।
परस्परविरुद्धत्वात्तेजस्तिमिरवत्तयोः ॥५६९॥
सामानाधिकरण्यं वा संयोगो वा समाश्रयः।
तमःप्रकाशवज्ज्ञानाज्ञानयोर्न हि सिध्यति ॥५७०॥

क्योंकि अन्धकार और प्रकाश के समान ज्ञान और अज्ञान दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे आत्मा ज्ञानाज्ञानरूप कैसे हो सकता है? ॥ कारण कि अन्धकार और प्रकाशके समान ज्ञान और अज्ञानका सामानाधिकरण्य-एक अधिकरणवृत्तित्व-एक अधिकरणमें होना अथवा संयोग या समान आश्रय सिद्ध नहीं होता ॥५६९-५७०॥

अज्ञानमपि विज्ञानं बुद्धिर्वापि च तद्गुणाः।
सुषुप्तौ नोपलभ्यन्ते यत्किंचिदपि वाऽपरम् ॥५७१॥
मात्रादिलक्षणं किंतु शून्यमेवोपलभ्यते।
सुषुप्तौ नान्यदस्त्येव नाहमप्यासमित्यनु ॥५७२॥
सुप्तोत्थितजनैः सर्वैः शून्यमेवानुस्मर्यते।
यत्ततः शून्यमेवात्मा न ज्ञानाज्ञानलक्षणः ॥५७३॥

अज्ञान, ज्ञान अथवा बुद्धि और उनके आवरण, प्रकाश आदि धर्म भी सुषुप्तिमें उपलब्ध नहीं होते और अन्य कुछ प्रमाता, प्रमाण, प्रमितिरूप भी उपलब्ध नहीं होते, किन्तु केवल शून्य ही उपलब्ध होता है, सुषुप्तिमें न और कुछ है और मैं भी नहीं था। क्योंकि पश्चात् सोकर जागे सब मनुष्य शून्य का ही स्मरण करते हैं। इसलिए शून्य ही आत्मा है, ज्ञानाज्ञानरूप आत्मा नहीं है ॥५७१-५७३॥

वेदेनाप्यसदेवेदमग्र आसीदिति स्फुटम्।
निरुच्यते यतस्तस्माच्छून्यस्यैवात्मता मता ॥५७४॥
असन्नेव घटः पूर्वं जायमानः प्रदृश्यते।
न हि कुम्भः पुरैवान्तः स्थित्वोदेति बहिर्मुखः ॥५७५॥
यत्तस्मादसतः सर्वं सदिदं समजायत।
ततः सर्वात्मना शून्यस्यैवात्मत्वं समर्हति ॥५७६॥

क्योंकि **'असन्नेवेदमग्र आसीत्'** (छा० ६-२-१) (सृष्टिके पहले यह सब असत्-शून्य ही था) इस प्रकार वेदने भी स्पष्ट निरूपण किया है, इसलिए शून्यको ही आत्मा माना गया है अर्थात् शून्य केवल युक्ति सिद्ध नहीं है किन्तु श्रुति सिद्ध भी है ॥ पहले असत्-शून्य ही घट उत्पन्न हुआ दिखाई देता है, पहले घट मृत्तिकामें स्थित होकर पुनः

बहिर्मुख हो उत्पन्न होता है ऐसा नहीं होता । न्यायमतमें पहले घटका प्रागभाव माना गया है, पश्चात् सामग्रीद्वारा उत्पन्न होता है, इसका खण्डन किया गया है ॥ इससे **'असतः सज्जायत'** (छा० ६, २, १) यह सब सत्-जगत् असत्से उत्पन्न होता है, इसलिए सब प्रकारसे शून्य ही आत्मा हो सकता है ॥५७४-५७६॥

इत्येवं पण्डितंमन्यैः परस्परविरोधिभिः ।
तत्तन्मतानुरूपाल्पश्रुतियुक्त्यनुभूतिभिः ॥५७७॥
निर्णीतमतजातानि खण्डितान्येव पण्डितैः ।
श्रुतिभिश्चाप्यनुभवैर्बाधकैः प्रतिवादिनाम् ॥५७८॥
यतस्तस्मात्तु पुत्रादेः शून्यान्तस्य विशेषतः ।
सुसाधितमनात्मत्वं श्रुतियुक्त्यनुभूतिभिः ॥५७९॥

इस प्रकार परस्पर विरोधी पण्डितमानी पुरुषोंने जो तत् तत्-उस उस अपने-अपने मतके अनुकूल कुछ श्रुति प्रमाण, युक्ति और अनुभवके द्वारा सिद्धान्तका निर्णय किया है, उन प्रतिवादियोंके सब निर्णीत मतोंका विद्वानोंने श्रुति, अनुभव और बाधक तर्कोंसे खण्डन कर दिया है । इसलिए श्रुति, युक्ति और अनुभवके द्वारा पुत्रादिसे लेकर शून्य पर्यन्त सब पदार्थोंका अनात्मत्व विशेषरूपसे भली-भाँति सिद्ध कर दिया गया है अर्थात् पुत्र, धन आदिसे शून्य पर्यन्त सब पदार्थ अनात्मा हैं, यह श्रुति आदिसे सिद्ध होता है ॥

न हि प्रमाणान्तरबाधितस्य याथार्थ्यमङ्गीक्रियते महद्भिः ।
पुत्रादिशून्यान्तमनात्मतत्त्वमित्येव विस्पष्टमतः सुजातम् ॥५८०॥

क्योंकि महात्मा लोग अन्य प्रमाणसे बाधित वस्तुकी यथार्थता-सत्यता स्वीकार नहीं करते हैं, अतः पुत्र आदिसे शून्य पर्यन्त सब अनात्मा है, ऐसा भलीभाँति स्पष्ट हो गया है ॥५८०॥

शिष्यः—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने शून्यं विना नान्यदिहोपलभ्यते ।
शून्यं त्वनात्मा न ततः परः कोऽप्यात्माभिधानस्त्वनुभूयतेऽर्थः ॥५८१॥

सुषुप्तिकालमें सबके विलीन होनेपर शून्यके विना यहाँ अन्य कुछ उपलब्ध नहीं होता, आपके कथनानुसार शून्य भी आत्मा नहीं है और उससे भिन्न आत्मा नामवाला कोई भी पदार्थ अनुभवमें नहीं आता, तो इससे सिद्ध होता है कि शून्य ही आत्मा है ॥५८१॥

यद्यस्ति चात्मा किमु नोपलभ्यते सुप्तौ यथा तिष्ठति किं प्रमाणम् ।
किंलक्षणोऽसौ स कथं न बाध्यते प्रबाध्यमानेष्वहमादिषु स्वयम् ॥५८२॥

यदि आत्मा नामका कोई पदार्थ है तो उपलब्ध क्यों नहीं होता ? सुषुप्ति में जिस प्रकार विद्यमान है, उसमें क्या प्रमाण है ? वह किस लक्षणवाला है—उसका लक्षण क्या

है ? अहङ्कार आदिके बाधित होनेपर वह आत्मा स्वयं बाधित क्यों नहीं होता ? ॥५८२॥

एतत्संशयजातं मे हृदयग्रन्थिलक्षणम् ।
छिन्धि युक्तिमहाखड्गधारया कृपया गुरो ॥५८३॥

हे गुरुदेव ! मेरे हृदयकी गाँठरूप (चिज्जड़ग्रन्थि) इस संशय समुदायका कृपाकर युक्तिरूपी महाखड्गकी धारासे छेदन कीजिए ॥५८३॥

श्रीगुरुः—

अतिसूक्ष्मतरः प्रश्नस्तवायं मदृशो मतः ।
सूक्ष्मार्थदर्शनं सूक्ष्मबुद्धिष्वेव प्रदृश्यते ॥५८४॥
शृणु वक्ष्यामि सकलं यद्यत्पृष्टं त्वयाधुना ।
रहस्यं परमं सूक्ष्मं ज्ञातव्यं च मुमुक्षुभिः ॥५८५॥

यह अतिसूक्ष्म प्रश्न तेरे योग्यही माना गया है, सूक्ष्म बुद्धियोंमें ही सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान होता देखा जाता है । अत्यन्त सूक्ष्म रहस्य और मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा ज्ञातव्य तत्त्व जो-जो तुमने अब पूछा है, उस सबको कहूँगा, सुन ! ॥५८४-५८५॥

॥ शून्यवाद निरास ॥

बुद्ध्यादि सकलं सुप्तावनुलीनं स्वकारणे ।
अव्यक्ते वटवद्बीजे तिष्ठत्यविकृतात्मना ॥५८६॥

तिष्ठत्येव स्वरूपेण न तु शून्यायते जगत् ।
क्वचिदङ्कुररूपेण क्वचिद्बीजात्मना वटः ।
कार्यकारणरूपेण यथा तिष्ठत्यदस्तथा ॥५८७॥

अव्याकृतात्मनावस्थां जगतो वदति श्रुतिः ।
सुषुप्त्यादिषु तद्भेदं तर्ह्यव्याकृतमित्यसौ ॥५८८॥

इममर्थमविज्ञाय निर्णीतं श्रुतियुक्तिभिः ।
जगतो दर्शनं शून्यमिति प्राहुरतद्विदः ॥५८९॥

जैसे वटवृक्ष अपने कारणरूप बीजमें अव्यक्तभावसे रहता है, वैसे ही सुषुप्तिमें बुद्धि आदि सब अपने उपादानकरण अव्यक्तमें लीन होकर अविकाररूपसे रहते हैं ॥ यह जगत् अपने रूपसे निश्चित रहता है, शून्यताको प्राप्त नहीं होता, जैसे वटवृक्ष कहीं अङ्कुर रूपसे और कहीं बीजरूपसे अर्थात् कहीं कार्यरूपसे और कहीं कारणरूपसे रहता है, वैसे ही यह जगत् भी कभी कार्य-व्यक्तरूपसे और कभी कारण-अव्यक्तरूपसे रहता है ॥ **'तर्ह्यव्याकृतमासीत्'** 'यह सब जगत् अव्याकृत—नाम-रूपसे अव्यक्त था' इस प्रकार यह श्रुति अव्यक्तरूपसे जगत्की अवस्था और सुषुप्ति आदिमें इसके भेदको कहती है ॥

इस तत्त्वको न जाननेवाले इस गूढ़ अर्थको न जानकर श्रुति एवं युक्तिसे निर्णीत जगत्‌के प्रत्यक्ष दर्शनको 'शून्य है' ऐसा कहते हैं ॥५८६-५८९॥

नासतः सत उत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते ।
उदेति नरशृङ्गात्किं खपुष्पात्किं भविष्यति ॥५९०॥

असत्-अवस्तुसे सत् वस्तुकी उत्पत्ति न कहीं सुनी जाती है और न कहीं देखी जाती है। मनुष्यके सीङ्गसे क्या कुछ उत्पन्न होता है और आकाशके फूलसे क्या उत्पन्न होगा ? अर्थात् जैसे असत्-अलीक मनुष्य सीङ्ग, आकाशके फूलसे कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, वैसे असत्-शून्यसे भी जगत् की उत्पत्ति कदापि संभव नहीं है ॥५९०॥

प्रभवति न हि कुम्भोऽविद्यमानो मृदश्चे-
त्प्रभवतु सिकताया वाथवा वारिणो वा ।
न हि भवति च ताभ्यां सर्वथा क्वापि तस्मा-
द्यत उदयति योऽर्थोऽस्त्यत्र तस्य स्वभावः ॥५९१॥

यदि घट अव्यक्तभावसे मृत्तिकामें विद्यमान न होता, तो मृत्तिकासे कदापि उत्पन्न न होता। यदि मृत्तिकामें अविद्यमान होकर भी उत्पन्न हो तो बालूसे अथवा जलसे उत्पन्न हो, परन्तु बालू और जलसे सर्वथा कहीं भी उत्पन्न नहीं होता, इसलिए जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है उसमें उसका स्वभाव है ॥५९१॥

अन्यथा विपरीतं स्यात्कार्यकारणलक्षणम् ।
नियत सर्वशास्त्रेषु सर्वलोकेषु सर्वतः ॥५९२॥

जिस कारणमें जिस कार्यका स्वभाव विद्यमान है वह उसीसे उत्पन्न होता है, ऐसा यदि न माना जाय तो सर्वत्र सब शास्त्रोंमें एवं सब लोकोंमें कार्य और कारणका लक्षण जो नियत है वह विपरीत हो जायगा । ॥५९२॥

कथमसतः सज्जायेतेति श्रुत्या निषिध्यते तस्मात् ।
असतः सज्जननं नो घटते मिथ्यैव शून्यशब्दार्थः ॥५९३॥

'कथमसतः सज्जायेत' 'असत्‌से सत् वस्तु कैसे उत्पन्न होगी ?' इसप्रकार छान्दोग्य श्रुतिने असत्-शून्यसे जगत्‌की उत्पत्तिका निषेध किया है, असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति नहीं घटती, इसलिए शून्य पदार्थ मिथ्या ही है अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥५९३॥

अव्यक्तशब्दिते प्राज्ञे सत्यात्मन्यत्र जाग्रति ।
कथं सिध्यति शून्यत्वं तस्य भ्रान्तशिरोमणे ॥५९४॥
सुषुप्तौ शून्यमेवेति केन पुंसा तवेरितम् ।
हेतुनानुमितं केन कथं ज्ञातं त्वयोच्यताम् ॥५९५॥

हे अज्ञानियोंका शिरोमणि ! सुषुप्तिकालमें अव्यक्तशब्दवाच्य प्राज्ञ जीवात्माके जागनेपर वह शून्य कैसे सिद्ध होगा ? सुषुप्तिमें शून्य ही है, ऐसा किस पुरुषने तुमसे

कहा, किस हेतुसे अनुमान किया और तुमने यह कैसे जाना? यह सब कहना चाहिए? ॥५९५॥

इति पृष्टो मूढतमो वदिष्यति किमुत्तरम्।
नैवानुरूपकं लिङ्गं वक्ता वा नास्ति कश्चन।
सुषुप्तिस्थितशून्यस्य बोद्धा को न्वात्मनः परः ॥५९६॥

इस प्रकार पूछे जानेपर अतिमूढ क्या उत्तर कहेगा, कोई अनुरूप लिङ्ग-हेतु नहीं है अथवा ऐसा कोई वक्ता नहीं है। सुषुप्तिमें विद्यमान शून्यका बोद्धा आत्मासे भिन्न और कौन है? ॥५९६॥

स्वेनानुभूतं स्वयमेव वक्ति स्वसुप्तिकाले स्थितशून्यभावम्।
तत्र स्वसत्तामनवेक्ष्य मूढः स्वस्यापि शून्यत्वमयं ब्रवीति ॥५९७॥

सुषुप्तिमें अपनेसे ही अनुभूत विद्यमान शून्यभावको स्वयं ही कहता है। उस अवस्थामें अपने ही अस्तित्वको न जानकर यह मूढ अपनेको भी शून्य कहता है। शून्यवादीका कथन है कि सुषुप्तिमें शून्य ही रहता है, इसलिए शून्य आत्मा है। परन्तु यह सोचना चाहिए कि सुषुप्तिमें शून्य है, यह किसने जाना, उस शून्यको जाननेवाला शून्यसे भिन्न ही होगा, उसका निषेध कैसे होगा, वही तो आत्मा है ॥५९७॥

अवेद्यमानः स्वयमन्यलोकैः सौषुप्तिकं धर्ममवैति साक्षात्।
बुद्ध्याद्यभावस्य च योऽत्र बोद्धा स एष आत्मा खलु निर्विकारः ॥५९८॥

अन्य लोग जिसे नहीं जान सकते जो सुषुप्ति कालीन अवस्थाको साक्षात् स्वयं ही जानता है। सुषुप्तिमें जो बुद्धि आदिके अभावका बोद्धा-जाननेवाला है, निश्चय वही निर्विकार आत्मा है ॥५९८॥

यस्येदं सकलं विभाति महसा तस्य स्वयंज्योतिषः
सूर्यस्येव किमस्ति भासकमिह प्रज्ञादि सर्वं जडम्।
न ह्यर्कस्य विभासकं क्षितितले दृष्टं तथैवात्मनो
नान्यः कोऽप्यनुभासकोऽनुभविता नातः परः कश्चन ॥५९९॥

जिसके ज्ञानरूप प्रकाशसे यह सब दृश्यमान जगत् प्रकाशित होता है। [**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (मुण्ड० २।२।१०) यह श्रुति है।] स्वयं ज्योतिःस्वरूप उसका सूर्यके समान इस जगत्में क्या कोई प्रकाशक है? बुद्धि आदि तो सब जड़ हैं। जैसे भूतलपर सूर्यका कोई प्रकाशक नहीं देखा गया है, वैसे ही आत्मासे भिन्न अन्य कोई भी प्रकाशक नहीं है और उससे भिन्न कोई अनुभव करनेवाला-जाननेवाला भी नहीं है ॥५९९॥

येनानुभूयते सर्वं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
विज्ञातारमिमं को नु कथं वेदितुमर्हति ॥६००॥

जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें सबको अनुभव करता है, उस विज्ञाताको कौन कैसे जान सकता है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० ४।५।१५) ॥६००॥

सर्वस्य दाहको वह्निर्वह्नेर्नान्योऽस्ति दाहकः ।
यथा तथात्मनो ज्ञातुर्ज्ञाता कोऽपि न दृश्यते ॥६०१॥
उपलभ्येत केनायं ह्युपलब्धा स्वयं ततः ।
उपलब्ध्यन्तराभावान्नायमात्मोपलभ्यते ॥६०२॥

जैसे अग्नि सबका दाहक है, अग्निका दाहक अन्य नहीं है, वैसे ही सबके ज्ञाता आत्माका कोई भी ज्ञाता नहीं दिखाई देता है ॥ स्वयं ही यह उपलब्धा आत्मा किससे उपलब्ध हो इससे अन्य उपलब्धिके न होनेसे यह आत्मा उपलब्ध नहीं होता अर्थात् आत्मा किसी ज्ञानका विषय नहीं है ॥६०१-६०२॥

बुद्ध्यादिवेद्यविलयादयमेक एव सुप्तो न पश्यति शृणोति न वेत्ति किञ्चित् ।
सौषुप्तिकस्य तमसः स्वयमेव साक्षी भूत्वात्र तिष्ठति सुखेन च निर्विकल्पः ॥६०३॥

सुषुप्तिमें बुद्धि आदि सब वेद्य वस्तुके अपने कारणमें विलय हो जानेसे यह केवल एक न कुछ देखता है, न कुछ सुनता है और न कुछ जानता है । सुषुप्तिमें विद्यमान अज्ञानका स्वयं साक्षी होकर सुषुप्तिमें निर्विकल्प होकर सुखसे रहता है ॥६०३॥

सुषुप्तावात्मसद्भावे प्रमाणं पण्डितोत्तमाः ।
विदुः स्वप्रत्यभिज्ञानमाबालवृद्धसंमतम् ॥६०४॥
प्रत्यभिज्ञायमानत्वाल्लिङ्गमात्रानुमापकम् ।
स्मर्यमाणस्य सद्भावः सुखमस्वाप्समित्ययम् ॥६०५॥
पुरानुभूतो नो चेत्तु स्मृतेरनुदयो भवेत् ।
इत्यादितर्कयुक्तिश्च सद्भावे मानमात्मनः ॥६०६॥

उत्तम पण्डित लोग सुषुप्तिमें आत्माके अस्तित्वमें बालकसे वृद्धपर्यन्त सर्वसम्मत अपना प्रत्यभिज्ञान 'मैं वही हूँ' रूप प्रमाण जानते हैं ॥ आत्माके प्रत्यभिज्ञान (जो मैं देख रहा था वही मैं अब स्पर्श कर रहा हूँ) निरन्तर प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे और हेतुमात्रके द्वारा अनुमान करनेवाला 'मैं सुखपूर्वक सोया' इसप्रकार स्मर्यमाणका यह अस्तित्व ज्ञात होता है ॥ यदि किसी वस्तुका पहले अनुभव न हो तो तद्विषयक स्मृतिका उदय नहीं होगा, इत्यादि तर्क-युक्ति आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण है ॥६०५-६०६

यत्रात्मनोऽकामयितृत्वबुद्धिः स्वप्नानपेक्षापि च तत्सुषुप्तम् ।
इत्यात्मसद्भाव उदीर्यतेऽत्र श्रुत्यापि तस्माच्छ्रुतिरत्र मानम् ॥६०७॥

जिस अवस्थामें आत्मामें कामना करनेकी बुद्धि नहीं होती और स्वप्नोंकी भी अपेक्षा नहीं है, वह सुषुप्ति अवस्था है । इसप्रकार श्रुति भी सुषुप्तिमें आत्माका अस्तित्व कहती है, इसलिए आत्माके अस्तित्वमें श्रुति भी प्रमाण है ॥६०७॥

अकामयितृता स्वप्नादर्शनं घटते कथम् ।
अविद्यमानस्य तत आत्मास्तित्वं प्रतीयते ॥६०८॥
एतैः प्रमाणैरस्तीति ज्ञातः साक्षितया बुधैः ।
आत्मायं केवलः शुद्धः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥६०९॥

अविद्यमान वस्तुमें अकामयितृत्व और स्वप्नका अदर्शन कैसे हो सकता है अर्थात् **'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति'** (बृह० ४।३।१९) श्रुति कहती है 'कि सुषुप्तिमें आत्मा न कुछ कामना करता है, न स्वप्न देखता है, यदि सुषुप्तिमें आत्मा है ही नहीं तो यह निषेध कैसे किया गया। इससे सुषुप्तिमें आत्माका अस्तित्व प्रतीत होता है। पण्डितोंने इन प्रमाणोंके द्वारा अद्वितीय-शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप यह आत्मा साक्षीरूपसे है, ऐसा जाना है ॥६०८-६०९॥

सत्त्वचित्त्वानन्दतादिलक्षणं प्रत्यगात्मनः ।
कालत्रयेऽप्यबाध्यत्वं सत्त्वं नित्यस्वरूपतः ॥६१०॥
शुद्धचैतन्यरूपत्वं चित्त्वं ज्ञानस्वरूपतः ।
अखण्डसुखरूपत्वादानन्दत्वमितीर्यते ॥६११॥

सत्स्वरूपता, चित्स्वरूपता और आनन्दस्वरूपता आदि प्रत्यगात्माका लक्षण है। सर्वदा नित्यस्वरूप होनेके कारण भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालमें भी बाधरहित है अतः सत्य है, ज्ञानस्वरूप होनेसे शुद्ध चैतन्यरूपता ही चित्स्वरूपता है। अखण्ड सुख रूप होनेसे आनन्दत्व कहा जाता है ॥६१०-६११॥

अनुस्यूतात्मनः सत्ता जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
अहमस्मीत्यतो नित्यो भवत्यात्मायमव्ययः ॥६१२॥
सर्वदाप्यासमित्येवाभिन्नप्रत्यय ईक्ष्यते ।
कदापि नासंनेत्यस्मादात्मनो नित्यता मता ॥६१३॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें 'मैं हूँ' इसप्रकार आत्माका अस्तित्व अनुगत है, इस कारण यह आत्मा अविनाशी और विकाररहित है ॥ सर्वदा भी 'मैं था' इसीप्रकार अभिन्न प्रत्यय देखनेमें आता है। कदापि 'मैं नहीं था' ऐसा प्रत्यय-ज्ञान देखनेमें नहीं आता' इसलिए आत्मा नित्य माना गया है ॥६१२-६१३॥

आयातासु गतासु शैशवमुखावस्थासु जाग्रन्मुखा-
स्वन्यास्वप्यखिलासु वृत्तिषु धियो दुष्टास्वदुष्टास्वपि ।
गङ्गाभङ्गपरम्परासु जलवत्सत्तानुवृत्तात्मन-
स्तिष्ठत्येव सदा स्थिराहमहमित्येकात्मता साक्षिणः ॥६१४॥

जैसे गङ्गाकी तरङ्गोंकी परम्परा प्रवाहमें जल अनुस्यूत है, वैसे आनेजानेवाली बाल्य

प्रमुख योवन आदि अवस्थाओंमें, जाग्रत् प्रधान स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंमें, अच्छी बुरी अन्य भी सब बुद्धिकी वृत्तियोंमें आत्माकी सत्ता अनुगत रहती ही है। 'यह मैं' 'यह मैं' इसप्रकार साक्षीकी एकरूपता-अभिन्नता सदा स्थिररूपसे रहती है ॥६१४॥

प्रतिपदमहमादयो विभिन्नाः क्षणपरिणामितया विकारिणस्ते।
न परिणतिरमुष्य निष्कलत्वादयमविकार्यत एव नित्य आत्मा ॥६१५॥

प्रतिविषयमें अहङ्कार आदि भिन्न भिन्न हैं अर्थात् पदार्थके भेदसे अहङ्कार आदिमें भी भेद पाया जाता है, प्रतिक्षणमें उनकी अवस्था बदलती है, इससे वे विकारी हैं, निरवयव होनेसे आत्माका परिणाम नहीं होता और अविकारी होनेसे यह आत्मा नित्य ही है ॥६१५॥

यः स्वप्नमद्राक्षमहं सुखं योऽस्वाप्सं स एवास्म्यथ जागरूकः।
इत्येवमच्छिन्नतयानुभूयते सत्तात्मनो नास्ति हि संशयोऽत्र ॥६१६॥

जो मैं स्वप्नको देखा, जो मैं सुखसे सोया वही मैं अब जाग रहा हूँ' इसप्रकार अविच्छिन्नरूपसे आत्माकी सत्ताका अनुभव होता है, इस विषयमें किसी प्रकारका भी संशय नहीं है ॥६१६॥

श्रुत्युक्ताः षोडशकलाश्चिदाभासस्य नात्मनः।
निष्कलत्वान्नास्य लयस्तस्मान्नित्यत्वमात्मनः ॥६१७॥

'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च' (प्रश्न ५।४) (उस ईश्वरने प्राण-हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा, आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी, श्रोत्र आदि इन्द्रिय, मन, धान्यादि अन्न, अन्नसे वीर्य = सामर्थ्य, तप, मन्त्र-वेद, यज्ञादिकर्म, लोक, लोकोंमें देवदत्त आदि नाम) इसप्रकार श्रुत्युक्त सोलह कलाएँ चिदाभासकी हैं आत्माकी नहीं, निष्कल होनेसे आत्माका लय भी नहीं होता, इसलिए आत्मा नित्य है ॥६१७॥

जडप्रकाशकः सूर्यः प्रकाशात्मैव नो जडः।
बुद्ध्यादिभासकस्तस्माच्चित्स्वरूपस्तथा मतः ॥६१८॥

घट, पट आदि जड़ पदार्थोंका प्रकाशक सूर्य प्रकाशस्वरूप है अप्रकाशरूप नहीं, वैसे ही आत्मा बुद्धि आदिका प्रकाशक है, इस कारण वह चैतन्यस्वरूप माना गया है ॥६१८॥

कुड्यादेस्तु जडस्य नैव घटते भानं स्वतः सर्वदा
सूर्यादिप्रभया विना क्वचिदपि प्रत्यक्षमेतत्तथा।
बुद्ध्यादेरपि न स्वतोऽस्त्यणुरपि स्फूर्तिर्विनैवात्मना
सोऽयं केवलचिन्मयश्रुतिमतो भानुर्यथा रुङ्मयः ॥६१९॥

दीवार आदि जड़ वस्तुओंका सर्वदा स्वतः भान नहीं हो सकता, सूर्य आदि

प्रकाशके बिना कहीं भी दीवार आदिका प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही आत्माके बिना बुद्धि आदिकी अणुमात्र भी स्वतः स्फूर्ति-भान नहीं होती। जैसे सूर्य कान्तिमय है, वैसे ही यह आत्मा केवल चिन्मय-चैतन्यस्वरूप है, 'साक्षी चे॰।' इसप्रकार वेदके द्वारा माना गया है ॥६१९॥

स्वभासने वान्यपदार्थभासने नार्कः प्रकाशान्तरमीषदिच्छति।
स्वबोधने वाप्यहमादिबोधने तथैव चिद्धातुरयं परात्मा ॥६२०॥

जैसे सूर्य अपने प्रकाशनमें अथवा अन्य पदार्थके प्रकाशनमें प्रकाशान्तरकी थोड़ी भी इच्छा (अपेक्षा) नहीं करता, वैसे ही चैतन्यस्वरूप यह परमात्मा अपने ज्ञानमें अथवा अहङ्कार आदिके बोधनमें किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता ॥६२०॥

अन्यप्रकाशं न किमप्यपेक्ष्य यतोऽयमाभाति निजात्मनैव।
ततः स्वयंज्योतिरयं चिदात्मा न ह्यात्मभाने परदीप्त्यपेक्षा ॥६२१॥

क्योंकि यह आत्मा किसी भी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा न कर अपने स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है, इससे यह चिदात्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप है, अपने प्रकाशमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है ॥६२१॥

यं न प्रकाशयति किंचिदिनोऽपि चन्द्रः नो विद्युतः किमुत वह्निरयं मिताभः।
यं भान्तमेतमनुभाति जगत्समस्तं सोऽयं स्वयं स्फुरति सर्वदशासु चात्मा ॥६२२॥

जिसको सूर्य और चन्द्रमा किञ्चिद् भी प्रकाशित नहीं करते, न विद्युत प्रकाशित करता है। अल्प प्रकाशवाली अग्नि तो उसे क्या प्रकाशित कर सकेगी? किन्तु जिसके प्रकाशित हुए पीछे यह समस्त जगत् भासता है। सो यह आत्मा सब अवस्थाओंमें स्वयं ही प्रकाशित होती है (**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** (कठ॰ २।२।२५) ऐसी श्रुति भी है) ॥६२२॥

॥ आत्माका लक्षण-आत्माके आनन्दत्वका निरूपण ॥

आत्मनः सुखरूपत्वादानन्दत्वं स्वलक्षणम्।
परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः ॥६२३॥

सुखरूप होनेसे आत्माका आनन्दत्व अपना लक्षण है। परमप्रेमास्पदरूप होनेसे आत्मा सुखरूप है ॥६२३॥

सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीक्ष्यते।
कदापि नावधिः प्रीतेः स्वात्मनि प्राणिनां क्वचित् ॥६२४॥
क्षीणेन्द्रियस्य जीर्णस्य संप्राप्तोत्क्रमणस्य वा।
अस्ति जीवितुमेवाशा स्वात्मा प्रियतमो यतः ॥६२५॥

आत्मातः परमप्रेमास्पदः सर्वशरीरिणाम् ।
यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति ॥६२६॥

स्त्री पुत्र आदि सुखके साधनभूत पदार्थोंमें सब प्राणियोंकी प्रीति अवधिवाली-सीमित है। परन्तु कहींपर कदापि प्राणियोंकी अपने स्वरूपमें प्रीति सीमित नहीं है ॥ क्षीण इन्द्रियवाले वृद्धकी अथवा मृत्यु निकट प्राप्तवालेकी भी जीनेकी ही आशा रहती है, क्योंकि अपनी आत्मा सबसे अधिक प्रिय है ॥ इसलिए आत्मा सब प्राणधारियोंका परमप्रेमास्पद है, जिस आत्माके शेषरूप होनेसे सब पदार्थ उपादेयताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उपादेय होते हैं ॥६२४-६२६॥

एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि ।
अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ॥६२७॥
प्रियत्वेन मतं यत्तु तत्सदा नाप्रियं नृणाम् ।
विपत्तावपि संपत्तौ यथात्मा न तथापरः ॥६२८॥

यही आत्मा पुत्रसे, धनसे तथा अन्य सभी पदार्थोंसे अत्यन्त प्रिय है और यह आत्मा सभी पदार्थोंसे अत्यन्त भीतर-सूक्ष्म है। जो वस्तु प्रियरूपसे सम्मत है, वह सदा मनुष्योंको अप्रिय नहीं होती, विपत्तिमें अथवा सम्पत्तिमें जैसी आत्मा प्रिय है वैसा अन्य नहीं ॥६२७-६२८॥

आत्मा खलु प्रियतमोऽसुभृतां यदर्था भार्यात्मजाप्तगृहवित्तमुखाः पदार्थाः ।
वाणिज्यकर्षणगवावनराजसेवाभैषज्यकप्रभृतयो विविधाः क्रियाश्च ॥६२९॥

निश्चय प्राणधारियोंको आत्मा अत्यन्त प्रिय है, स्त्री, पुत्र, मित्र, घर, धन आदि पदार्थ और व्यापार, राजसेवा, वैद्य-चिकित्सा आदि विविध क्रियाएँ आत्माके लिए ही हैं ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् ।
आत्मार्थमेव नान्यार्थं नातः प्रियतमः परः ॥६३०॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति जो और जितनी चेष्टाएँ की जाती हैं, यह सब आत्माके लिए ही हैं, दूसरेके लिए नहीं, इसलिए आत्मासे भिन्न दूसरा कोई भी अत्यन्त प्रिय नहीं है ॥

तस्मादात्मा केवलानन्दरूपो यः सर्वस्माद्वस्तुनः प्रेष्ठ उक्तः ।
यो वा अस्मान्मन्यतेऽन्यं प्रियं यं सोऽयं तस्माच्छोकमेवानुभुङ्क्ते ॥६३१॥

इससे आत्मा केवल आनन्दस्वरूप ही है, जो सब वस्तुओंसे अत्यन्त प्रिय कही गयी है। जो कोई आत्माकी अपेक्षा जिस अन्य पदार्थको प्रिय मानता है, वही उस पदार्थसे शोकको ही भोगता है ॥६३१॥

॥ शिष्यः—॥

अपरः क्रियतो प्रश्नो मयायं क्षम्यतां प्रभो ।
अज्ञवागपराधाय कल्पते न महात्मनाम् ॥६३२॥

आत्मान्यः सुखमन्यच्च नात्मनः सुखरूपता ।
आत्मनः सुखमाशास्यं यतते सकलो जनः ॥६३३॥

हे प्रभो ! क्षमा कीजिए, मैं यह एक अन्य प्रश्न करता हूँ । अज्ञानी पुरुषकी वाणी महात्माओंके अपराधके लिए समर्थ नहीं होती अर्थात् महात्मा लोग उससे रुष्ट नहीं होते ॥ आत्मा अन्य वस्तु है, और सुख अन्य वस्तु है, आत्मा सुखरूप नहीं है, क्योंकि आत्मा तो सुखकी आशा करती है, इससे सब लोग आत्माके योग्य सुखके लिए यत्न करते हैं ॥६३२-६३३॥

आत्मनः सुखरूपत्वे प्रयत्नः किमु देहिनाम् ।
एष मे संशयः स्वामिन् कृपयैव निरस्यताम् ॥६३४॥

हे स्वामिन् ! यदि आत्मा सुखस्वरूप है तो सुखके लिए प्राणधारियोंका प्रयत्न क्यों है ? यह मेरा संशय है, कृपया इसे निवृत्त कीजिए ॥६३४॥

॥श्रीगुरुः—॥

आनन्दरूपमात्मानमज्ञात्वैव पृथग्जनः ।
बहिःसुखाय यतते न तु कश्चिद्विद्वन्बुधः ॥६३५॥

अविवेकी मनुष्य आनन्दस्वरूप आत्माको न जानकर ही बाहर सुखके लिए यत्न करता है । परन्तु आत्माको आनन्दस्वरूप जाननेवाला कोई विद्वान् बाहर सुखके लिए यत्न नहीं करता है ॥६३५॥

अज्ञात्वैव हि निक्षेपं भिक्षामर्टति दुर्मतिः ।
स्ववेश्मनि निधिं ज्ञात्वा को नु भिक्षामटेत्सुधीः ॥६३६॥

मूढ बुद्धि पुरुष घरमें दबी निधिको न जानकर ही भिक्षाके लिए घूमता है, कौन सा बुद्धिमान् पुरुष अपने घरमें निधिको जानकर भिक्षाके लिए घूमेगा ? ॥६३६॥

स्थूलं च सूक्ष्मं च वपुः स्वभावतो दुःखात्मकं स्वात्मतया गृहीत्वा ।
विस्मृत्य च स्वं सुखरूपमात्मनः दुःखप्रदेभ्यः सुखमज्ञ इच्छति ॥६३७॥

मूढ पुरुष स्वभावसे ही दुःखरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीरको अपने आत्मरूपसे ग्रहण कर और निज सुखरूप आत्माका विस्मरणकर दुःख देनेवाले पदार्थोंसे सुख चाहता है ॥

न हि दुःखप्रदं वस्तु सुखं दातुं समर्हति ।
किं विषं पिबतो जन्तोऽमृतत्वं प्रयच्छति ॥६३८॥

आत्मान्यः सुखमन्यच्चेत्येवं निश्चित्य पामरः ।
बहिःसुखाय यतते सत्यमेव न संशयः ॥६३९॥

दुःखप्रद वस्तु कदापि सुख नहीं दे सकती, क्या विष विषपीनेवाले व्यक्तिको अमृतत्व देता है ॥ पामरपुरुष आत्मा अन्य है और सुख उससे अन्य है, ऐसा निश्चयकर बाहर सुखके लिए यत्न करता है, यह बात सत्य ही है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥

इष्टस्य वस्तुनो ध्यानदर्शनाद्युपभुक्तिषु ।
प्रतीयते य आनन्दः सर्वेषामिह देहिनाम् ॥६४०॥
स वस्तुधर्मो नो यस्मान्मनस्येवोपलभ्यते ।
वस्तुधर्मस्य मनसि कथं स्यादुपलम्भनम् ॥६४१॥

इस संसारमें सब प्राणियोंको प्रिय वस्तुके ध्यान दर्शन आदि उपभोगोंमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वस्तुतः वह वस्तुका धर्म नहीं है, क्योंकि वह तो मनमें ही उपलब्ध होता है । अन्य वस्तुके धर्मका मनमें उपलम्भ-ज्ञान कैसे होगा ?॥६४०-६४१॥

अन्यत्र त्वन्यधर्माणामुपलम्भो न दृश्यते ।
तस्मान्न वस्तुधर्मोऽयमानन्दस्तु कदाचन ॥६४२॥
नाप्येष धर्मो मनसोऽसत्यर्थे तददर्शनात् ।
असति व्यञ्जके व्यंग्यं नोदेतीति न मन्यताम् ॥६४३॥

अन्य वस्तुके धर्मोंका अन्यमें ज्ञान नहीं देखा जाता है, इसलिए यह आनन्द तो आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुका धर्म कदापि नहीं है ॥ यह आनन्द मनका भी धर्म नहीं है, क्योंकि पदार्थ के न होनेपर उस आनन्दका दर्शन-अनुभव नहीं होता । वादिको यह भी नहीं मानना चाहिए कि व्यञ्जक-प्रकाशक वस्तुके न होनेपर व्यंग्य-प्रकाश्य उदय नहीं होता ॥

सत्यर्थेऽपि च नोदेति ह्यानन्दस्तूक्तलक्षणः ।
सत्यपि व्यञ्जके व्यंग्यानुदयो नैव संमतः ॥६४४॥

विषयके विद्यमान होनेपर भी उक्तलक्षणवाला आनन्द प्रकट नहीं होता, व्यञ्जक-वस्तुके विद्यमान होनेपर भी व्यंग्य-आनन्दका उदय नहीं है, यह भी अभिमत नहीं है ॥

दुरदृष्टादिकं नात्र प्रतिबन्धः प्रकल्प्यताम् ।
प्रियस्य वस्तुनो लाभे दुरदृष्टं न सिध्यति ॥६४५॥

यदि कहो कि वस्तुके होनेपर भी आनन्दकी अनुभूति नहीं होती, इसमें अशुभ प्रारब्ध आदि बाधक हैं, तो इस विषयमें अशुभ प्रारब्ध आदिको भी बाधक नहीं कल्पना करना चाहिए, क्योंकि प्रिय वस्तुके लाभ होनेपर अशुभ प्रारब्ध सिद्ध नहीं होता ॥

तस्मान्न मानसो धर्मो निर्गुणत्वान्न चात्मनः ।
किं तु पुण्यस्य सांनिध्यादिष्टस्यापि च वस्तुनः ॥६४६॥
सत्त्वप्रधाने चित्तेऽस्मिन्स्वात्मैव प्रतिबिम्बति ।
आनन्दलक्षणः स्वच्छे पयसीव सुधाकरः ॥६४७॥
सोऽयमाभास आनन्दश्चित्ते यः प्रतिबिम्बितः ।
पुण्योत्कर्षापकर्षाभ्यां भवत्युच्चावचः स्वयम् ॥६४८॥

इसलिए आनन्द मनका धर्म नहीं है, और निर्गुण होनेसे आत्माका भी धर्म नहीं है,

किन्तु पुण्य और इष्ट वस्तुके सान्निध्यमे इस सत्त्वगुण प्रधान चित्तमें स्वच्छ जल के समान आनन्दस्वरूप आत्मा प्रतिबिम्बित होती है ॥ जो आनन्द स्वच्छ चित्तमें प्रतिबिम्बित है सो यह आभास है, क्योंकि पुण्योंकी अधिकता और न्यूनतासे वह स्वयं ही न्यूनाधिक-अनेक प्रकारका प्रतीत होता है ॥६४६-६४८॥

सार्वभौमादिब्रह्मान्तं श्रुत्या यः प्रतिपादितः ।
स क्षयिष्णुः सातिशयः प्रक्षीणे कारणे लयम् ॥६४९॥
यात्येष विषयानन्दो यस्तु पुण्यैकसाधनः ।
ये तु वैषयिकानन्दं भुञ्जते पुण्यकारिणः ॥६५०॥
दुःखं च भोगकालेऽपि तेषामन्ते महत्तरम् ।
सुखं विषयसंपृक्तं विषसंपृक्तभक्तवत् ॥६५१॥

'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । (तै० २।८।१) **'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्राह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।'** (तै० २।८।४) (अब यह ब्रह्मके आनन्दकी मीमांसा है— साधु स्वभाववाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसकी यह धनधान्य सम्पन्न पृथिवी भी हो अर्थात् वह समस्त भूमण्डलका एकमात्र छत्रपति हो उसका जो आनन्द है वह एक मानुष आनन्द है, यह आनन्द मनुष्य लोकमें मानवीय स्तरका पूर्ण आनन्द कहा जाता है । मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देव-गन्धर्व, अग्निस्वात् आदि पितर, आजानदेव, कर्मदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति पर्यन्त पूर्व पूर्वसे उत्तरोत्तर सौगुना आनन्द प्राप्त होता है, प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं, यह ब्रह्माका एक आनन्द है और वह अकामहत ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियको भी होता है) इसप्रकार श्रुतिने चक्रवर्ती राजासे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जो आनन्द कहा है वह क्षय होनेवाला, सातिशय-अधिकतासे युक्त है, परन्तु पुण्यमात्र साधनवाला स्त्री पुत्र आदि विषयजनित आनन्द कारण-पुण्यके नष्ट होनेपर नाशको ही प्राप्त होता है । किन्तु जो पुण्यकर्मी विषयजनित आनन्दको भोगते हैं, उनको भोगकालमें भी दुःख है, परन्तु विषयसंपर्कका सुख परिणाममें विषसम्मिलित अन्नके समान महान् दुःखप्रद होता है ॥६४९-६५१॥

भोगकालेऽपि भोगान्ते दुःखमेव प्रयच्छति ।
सुखमुच्चावचत्वेन क्षयिष्णुत्वभयेन च ॥६५२॥
भोगकाले भवेन्नृणां ब्रह्मादिपदभाजिनाम् ।
राजस्थानप्रविष्टानां तारतम्यं मतं यथा ॥६५३॥
तथैव दुःखं जन्तूनां ब्रह्मादिपदभाजिनाम् ।
न कांक्षणीयं विदुषा तस्माद्वैषयिकं सुखम् ॥६५४॥

विषयजन्य सुख विविध प्रकारका होने और नष्ट होनेके भयसे भोग कालमें और भोगके अन्तमें भी दुःख ही देता है ।। ब्रह्मा आदि पदोंके भागी मनुष्योंको भोगके समय भी विषयसुख तारतम्यसे प्राप्त होता है जैसे राजापर्यन्त स्थान प्राप्त करनेवालोंको विषयसुख भोगकालमें भी तारतम्यसे माना गया है, वैसे ही ब्रह्मादि पदोंके भागी व्यक्तियों को दुःख भी तारतम्यसे होता है, इसलिए विद्वानोंको विषयसुखकी काङ्क्षा नहीं करनी चाहिए अर्थात् जैसे मनुष्यसे ब्रह्मापर्यन्त सुखका तारतम्य श्रुतिमें कहा गया है, वैसे ब्रह्मासे नीचेकी ओर दुःखका भी तारतम्य है, ब्रह्मासे नीचेकी ओर दुःखकी मात्रा बढ़ती है, क्योंकि दुःखका कारण पाप अधिक देखनेमें आता है, जैसे पुण्योंके तारतम्यसे सुखका तारतम्य है, वैसे पापोंके तारतम्यसे नरकस्थ प्राणियों तक दुःखका भी तारतम्य है ।।

।। बिम्बभूत आनन्द आत्मा है ।।

यो बिम्बभूत आनन्दः स आत्मानन्दलक्षणः ।
शाश्वतो निर्द्वयः पूर्णो नित्य एकोऽपि निर्भयः ।।६५५।।

जो बिम्बभूत आनन्द है, वह आनन्दस्वरूप आत्मा शाश्वत, अद्वितीय, व्यापक, नित्य, एक और निर्भय है ।।६५५।।

लक्ष्यते प्रतिबिम्बेनाभासानन्देन बिम्बवत् ।
प्रतिबिम्बो बिम्बमूलो विना बिम्बं न सिध्यति ।।६५६।।

यत्ततो बिम्ब आनन्दः प्रतिबिम्बेन लक्ष्यते ।
युक्त्यैव पण्डितजनैर्न कदाप्यनुभूयते ।।६५७।।

जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बसे लक्षित होता है, वैसे आभासानन्दसे बिम्बभूत आनन्द लक्षित होता है । प्रतिबिम्ब बिम्बमूलक होता है, बिना बिम्बके प्रतिबिम्ब सिद्ध नहीं होता ।। इसलिए जो बिम्बभूत आनन्द है, वह प्रतिफलित अनान्दसे ही लक्षित होता है । पण्डित लोग उसका अनुभवके विना केवल युक्तिसे कदापि अनुभव नहीं कर सकते ।।

अविद्याकार्यकरणसंघातेषु पुरोदितः ।
आत्मा जाग्रत्यपि स्वप्ने न भवत्येष गोचरः ।।६५८।।

स्थूलस्यापि च सूक्ष्मस्य दुःखरूपस्य वर्ष्मणः ।
लये सुषुप्तौ स्फुरति प्रत्यगानन्दलक्षणः ।।६५९।।

पूर्वोक्त लक्षणवाला यह आत्मा अविद्या और उसके कार्य शरीर, इन्द्रिय आदि संघातमें तथा जाग्रत् और स्वप्नमें विद्यमान होते भी ज्ञानका विषय नहीं होता । सुषुप्तिमें दुःखरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीरके अपने कारणमें लय होनेपर आनन्दस्वरूप आत्मा प्रकाशित होती है ।।६५८-६५९।।

न ह्यत्र विषयः कश्चिन्नापि बुद्ध्यादि किंचन ।
आत्मैव केवलानन्दमात्रस्तिष्ठति निर्द्वयः ॥६६०॥

क्योंकि सुषुप्तिकालमें कोई विषय नहीं होता, बुद्धि आदि भी कुछ नहीं है, द्वैतरहित आनन्दस्वरूप केवल आत्मा ही विद्यमान है ॥६६०॥

प्रत्यभिज्ञायते सर्वैरेष सुप्तोत्थितैर्जनैः ।
सुखमात्रतया नात्र संशयं कर्तुमर्हसि ॥६६१॥
त्वयापि प्रत्यभिज्ञातं सुखमात्रत्वमात्मनः ।
सुषुप्तादुत्थितवता सुखमस्वाप्समित्यनु ॥६६२॥

सोकर उठे हुए सब लोग **'सुखमवाप्सम्'** इसप्रकार सुखरूपसे आत्माका प्रत्यभिज्ञान करते हैं, इस विषयमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता है ॥ सुषुप्ति अवस्थासे उठकर पीछे तुमने भी **'सुखमवाप्सम्'** (सुखसे सोया) इसप्रकार आत्माको सुखमात्र प्रत्यभिज्ञात किया है ॥६६१-६६२॥

दुःखाभावः सुखमिति यदुक्तं पूर्ववादिना ।
अनाघ्रातोपनिषदा तदसारं मृषा वचः ॥६६३॥

उपनिषद्‌की गन्ध भी न पानेवाले पूर्ववादीने जो कहा है कि दुःखका अभाव ही सुख है, वह सारहीन मिथ्या वचन है ॥६६३॥

दुःखाभावस्तु लोष्टादौ विद्यते नानुभूयते ।
सुखलेशोऽपि सर्वेषां प्रत्यक्षं तदिदं खलु ॥६६४॥

दुःखाभाव तो ढेले आदिमें भी विद्यमान है, परन्तु वहाँ सुखलेशका भी अनुभव नहीं किया जाता, निश्चय यह सबको प्रत्यक्ष है ॥६६४॥

सदयं ह्येष एवेति प्रस्तुत्य वदति श्रुतिः ।
सद्घनोऽयं चिद्घनोऽयमानन्दघन इत्यपि ॥६६५॥
आनन्दघनतामस्य स्वरूपं प्रत्यगात्मनः ।
धन्यैर्महात्मभिर्धीरैर्ब्रह्मविद्भिः सदुत्तमैः ॥६६६॥
अपरोक्षतयैवात्मा समाधावनुभूयते ।
केवलानन्दमात्रत्वेनैवमत्र न संशयः ॥६६७॥

'यह आत्मा सत्स्वरूप ही है' ऐसा प्रस्तुतकर यह सद्घन है, यह चिद्घन है, यह आनन्दघन है, ऐसा भी श्रुति कहती है । यह प्रत्यगात्मा आनन्दघनस्वरूप है । पुण्यात्मा धैर्यवान्, साधुओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मविद् महात्माओंने समाधिकालमें अपरोक्षरूपसे केवल आनन्द-स्वरूपसे ही आत्माका अनुभव किया है, इसविषयमें सन्देह नहीं है ॥६६५-६६७॥

स्वस्वोपाध्यनुरूपेण ब्रह्माद्याः सर्वजन्तवः ।
उपजीवन्त्यमुष्यैव मात्रामानन्दलक्षणाम् ॥६६८॥

ब्रह्मा आदि सब प्राणी अपनी-अपनी उपाधिके अनुसार इस आत्माके आनन्दरूपकी मात्राको लेकर जीवित रहते हैं, **'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'** (बृहदा० ४।४।३२) (इस आत्मानन्दके अंशको लेकर अन्य सब प्राणी जीवन धारण करते हैं) ऐसा श्रुति भी कहती है ।।६६८।।

आस्वाद्यते यो भक्ष्येषु सुखकृन्मधुरो रसः ।
स गुडस्यैव नो तेषां माधुर्यं विद्यते क्वचित् ।।६६९।।
तद्वद्विषयसांनिध्यादानन्दो यः प्रतीयते ।
बिम्बानन्दांशविस्फूर्तिरेवासौ न जडात्मनाम् ।।६७०।।

भक्ष्य पदार्थोंमें लोग जो सुखदायक मधुररसका आस्वादन करते हैं वह गुड़का ही है, उनमें तो कहीं भी माधुर्यरस विद्यमान नहीं है । वैसे ही विषयोंके सान्निध्यसे जो आनन्द प्रतीत होता है, वह तो विम्बभूत आनन्दके अंशका ही स्फुरणरूप है जड़-पदार्थोंका नहीं है ।।६६९-६७०।।

यस्य कस्यापि योगेन यत्र कुत्रापि दृश्यते ।
आनन्दः स परस्यैव ब्रह्मणः स्फूर्तिलक्षणः ।।६७१।।

जहाँ कहीं भी जिस किसीके भी संयोगसे सुख अनुभव होता है, वह तो परब्रह्मका ही स्फुरणरूप आनन्द है ।।६७१।।

।। आत्मा अद्वितीय है ।।

यथा कुवलयोल्लासश्चन्द्रस्यैव प्रसादतः ।
तथानन्दोदयोऽप्येषां स्फुरणादेव वस्तुनः ।।६७२।।

जैसे नीलकमलका विकसित होना चन्द्रमाके अनुग्रहसे है, वैसे ही सब जड़ पदार्थोंमें आनन्दका उदय भी आत्मरूपी वस्तुके स्फुरणसे ही होता है ।।६७२।।

सत्त्वं चित्त्वं तथानन्दस्वरूपं परमात्मनः ।
निर्गुणस्य गुणायोगाद्गुणास्तु न भवन्ति ते ।।६७३।।
विशेषणं तु व्यावृत्त्यै भवेद्द्रव्यान्तरे सति ।
परमात्माद्वितीयोऽयं प्रपञ्चस्य मृषात्वतः ।।६७४।।
वस्त्वन्तरस्याभावेन न व्यावृत्त्यः कदाचन ।
केवलो निर्गुणश्चेति निर्गुणत्वं निरुच्यते ।।६७५।।

सत्त्व, चेतनत्व तथा आनन्द परमात्माका स्वरूप है, निर्गुण आत्माको गुणका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए आनन्दादि आत्माके गुण नहीं हैं ।। सत्, चित् और आनन्द परमात्माके विशेषण नहीं हैं, क्योंकि यदि परमात्मासे भिन्न द्रव्यान्तर होता तो उसकी व्यावृत्तिके लिए विशेषण अपेक्षित होता, परन्तु प्रपञ्चके मिथ्या होनेसे यह परमात्मा

सो अद्वितीय है ॥ ब्रह्मसे भिन्न वस्तुके न होनेके कारण विशेषणके द्वारा कदाचिद् व्यावृत्ति भी नहीं है **'केवलो निर्गुणश्च'** 'ब्रह्म अद्वितीय और निर्गुण है' इसप्रकार श्रुति आत्माको निर्गुण कहती है ॥६७३-६७५॥

श्रुत्यैव न ततस्तेषां गुणत्वमुपपद्यते ।
उष्णत्वं च प्रकाशश्च यथा वह्नेस्तथात्मनः ॥६७६॥
सत्त्वचित्त्वानन्दतादि स्वरूपमिति निश्चितम् ।
अत एव सजातीयविजातीयादिलक्षणः ॥६७७॥
भेदो न विद्यते वस्तुन्यद्वितीये परात्मनि ।
प्रपञ्चस्यापवादेन विजातीयकृता भिदा ॥६७८॥

इससे सत्, चित्, आनन्द आदिको श्रुतिके द्वारा गुणत्व उपलब्ध नहीं होता, जैसे उष्णत्व और प्रकाश अग्निका स्वरूप है, वैसे सत्त्व, चेतनत्व और आनन्दत्व आदि आत्माका स्वरूप है यह निश्चित है । अतएव अद्वितीय, परमात्मरूप वस्तुमें सजातीय-विजातीयादिरूप भेद नहीं है । जैसे मनुष्यका मनुष्यसे भेद, यह सजातीय भेद है, मनुष्यका पशु आदिसे भेद यह विजातीय भेद है, एक वृक्षमें या शरीर आदिमें हाथ, पैर आदिका भेद यह स्वगत भेद है, परन्तु ब्रह्म तो अद्वितीय है, अतः उससे भिन्न कुछ है नहीं, तो सजातीय, विजातीय भेद भी नहीं है, निरवयव होनेसे ब्रह्ममें स्वगत भेद भी नहीं है । **'नेह नानाऽस्ति किंचन'** (इस ब्रह्ममें नाना नहीं है) इसप्रकार श्रुति द्वारा प्रपञ्चका अपवाद होनेसे विजातीय कृत भेद इष्ट नहीं है । तुझे उसका प्रकार कहूँगा, सादर श्रवणकर ॥६७६-६७८॥

॥ विवर्त और अपवाद ॥

नेष्यते तत्प्रकारं ते वक्ष्यामि शृणु सादरम् ।
अहेर्गुणविवर्तस्य गुणमात्रस्य वस्तुतः ॥६७९॥
विवर्तस्यास्य जगतः सन्मात्रत्वेन दर्शनम् ।
अपवाद इति प्राहुरद्वैतब्रह्मदर्शिनः ॥६८०॥

जैसे रज्जुके विवर्त सर्पका वस्तुतः रज्जुमात्रसे दर्शन है, वैसे ही इस विवर्त जगत्के ब्रह्मभावमात्रसे दर्शनको अद्वैत ब्रह्मदर्शी अपवाद ऐसा कहते हैं । **'अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः'** 'मिथ्याअन्यथाभाव विवर्तका लक्षण है ।' जैसे रज्जुका सर्पभाव यह रज्जुका विवर्त है अर्थात् अपने स्वरूपमें रहकर भी भिन्नरूपसे प्रतीत होना । वैसे यह जगत् ब्रह्मका विवर्त है, यह जगत् ब्रह्ममें अज्ञानसे कल्पित है, अतः मिथ्या है ॥६७९-६८०॥

व्युत्क्रमेण तदुत्पत्तेर्द्रष्टव्यं सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
प्रतीतस्यास्य जगतः सन्मात्रत्वं सुयुक्तिभिः ॥६८१॥

सूक्ष्म बुद्धिवालों द्वारा जगत्की उत्पत्तिसे विपरीत क्रमसे युक्तियों करके प्रतीयमान

इस जगत्को सन्मात्रत्व-ब्रह्मरूपसे देखना चाहिए ॥६८१॥

चतुर्विधं स्थूलशरीरजातं तद्भोज्यमन्नादि तदाश्रयादि ।
ब्रह्माण्डमेतत्सकलं स्थविष्ठमीक्षेत पञ्चीकृतभूतमात्रम् ॥६८२॥
यत्कार्यरूपेण यदीक्ष्यते तत्तन्मात्रमेवात्र विचार्यमाणे ।
मृत्कार्यभूतं कलशादि सम्यग्विचारितं सन्न मृदो विभिद्यते ॥६८३॥
अन्तर्बहिश्चापि मृदेव दृश्यते मृदो न भिन्नं कलशादि किञ्चन ।
ग्रीवादिमद्यत्कलशं तदित्थं न वाच्यमेतच्च मृदेव नान्यत् ॥६८४॥

जरायुज, आण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज इसतरह चार प्रकारका स्थूलशरीर समुदाय उनके भोज्य अन्न आदि और उनके आश्रय आदि यह सब अत्यन्त स्थूल ब्रह्माण्डको आकाशादि पञ्चीकृत भूतमात्र देखो-समझो ॥ जो वस्तु जिसके कार्यरूपसे दिखाई देती है, इस विषयमें विचार करनेपर वह वस्तुमात्र ही है। जैसे घट आदि मृत्तिकाके कार्यरूप हैं, सम्यक् विचार करनेपर वे मृत्तिकासे भिन्न नही हैं ॥ घट आदिके अन्दर और बाहर भी मृत्तिका ही दिखाई देती है, इसलिए घट आदि मृत्तिकासे किञ्चिदपि भिन्न नहीं हैं। ग्रीवा आदिवाला जो घट है, वह ऐसा ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यह घट मृत्तिका ही है उससे भिन्न नहीं है ॥६८२-६८४॥

स्वरूपतस्तत्कलशादिनाम्ना मृदेव मूढैरभिधीयते ततः ।
नाम्नो हि भेदो न तु वस्तुभेदः प्रदृश्यते तत्र विचार्यमाणे ॥६८५॥

इससे घट आदि स्वरूपसे मृत्तिका ही हैं, किन्तु अज्ञानियोंने उसे घट आदि (यह घट है, यह कलश है) नामसे अभिधान किया है। परन्तु इस विषयमें विचार किये जानेपर नामका ही भेद है, वस्तु भेद तो नहीं देखा जाता है ॥६८५॥

तस्माद्धि कार्यं न कदापि भिन्नं स्वकारणादस्ति यतस्ततोऽङ्ग ।
यद्भौतिकं सर्वमिदं तथैव तद्भूतमात्रं न ततोऽपि भिन्नम् ॥६८६॥

हे प्रिय ! इसलिए प्रत्येक कार्य अपने कारणसे कदापि भिन्न नहीं है, क्योंकि यह निश्चय है, संसारमें जो यह सब भौतिक पदार्थ हैं वैसे ही वह भूतमात्र हैं उससे भिन्न नहीं हैं ॥६८६॥

तच्चापि पञ्चीकृतभूतजातं शब्दादिभिः स्वस्वगुणैश्च सार्धम् ।
वपूंषि सूक्ष्माणि च सर्वमेतद्भवत्यपञ्चीकृतभूतमात्रम् ॥६८७॥

अपने-अपने शब्द आदि गुणोंके साथ वह पञ्चीकृत भूत समुदाय और सूक्ष्म शरीर भी यह सब अपञ्चीकृत भूतमात्र है ॥६८७॥

तदप्यपञ्चीकृतभूतजातं रजस्तमःसत्त्वगुणैश्च सार्धम् ।
अव्यक्तमात्रं भवति स्वरूपतः साभासमव्यक्तमिदं स्वयं च ॥६८८॥

रजो, तमो और सत्त्वगुणोंके साथ यह अपञ्चीकृत भूत समुदाय भी स्वरूपसे

अव्यक्त-मायामात्र है और स्वयं यह अव्यक्त आभासयुक्त है ॥६८८॥

आधारभूतं यदखण्डमाद्यं शुद्धं परं ब्रह्म सदैकरूपम् ।
सन्मात्रमेवास्त्यथ नो विकल्पः सतः परं केवलमेव वस्तु ॥६८९॥

वह सबका आधारभूत, अखण्ड, आद्य-आदि, शुद्ध, सर्वदा एकरूप सन्मात्र परब्रह्म ही है, उस सत्से भिन्न वस्तुकी कल्पना नहीं की जा सकती, केवल परब्रह्म वस्तु है ॥

एकश्चन्द्रः सद्वितीयो यथा स्याद्दृष्टेर्दोषादेव पुंसस्तथैकम् ।
ब्रह्मास्त्येद्बुद्धिदोषेण नाना दोषे नष्टे भाति वस्त्वेकमेव ॥६९०॥

जैसे मनुष्यकी दृष्टिके दोषसे **'यथा एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत्'** (ब्र० सू० उपोद्घात-शाङ्करभाष्य) एक चन्द्रमा दो चन्द्रमा-सा प्रतीत होता है, वैसे ही यह एक ब्रह्म बुद्धिके दोषसे अनेकरूपमें प्रतीत होता है । बुद्धिदोषके नष्ट हो जानेपर एक सद्वस्तु प्रतीत होती है ॥६९०॥

रज्जोः स्वरूपाधिगमे न सर्पधीः रज्ज्वां विलीना तु यथा तथैव ।
ब्रह्मावगत्या तु जगत्प्रतीतिस्तत्रैव लीना तु सह भ्रमेण ॥६९१॥

जैसे रज्जुके स्वरूपज्ञान होनेसे सर्पबुद्धि रज्जुमें ही लीन हो जाती है, वैसे ब्रह्मके ज्ञानसे जगत्प्रतीति भ्रमके साथ उस ब्रह्ममें ही लीन हो जाती है ॥६९१॥

भ्रान्त्योदितद्वैतमतिप्रशान्त्या सदेकमेवास्ति सदाऽद्वितीयम् ।
ततो विजातीयकृतोऽत्र भेदो न विद्यते ब्रह्मणि निर्विकल्पे ॥६९२॥

भ्रान्तिसे उत्पन्न द्वैतबुद्धि ब्रह्मज्ञानसे शान्त होनेपर सर्वदा एक अद्वितीय सद्वस्तु ही स्थिर रहती हैं, इसलिए यहाँ निर्विकल्प ब्रह्ममें विजातीयकृतभेद नहीं है ॥६९२॥

यदास्त्युपाधिस्तदभिन्न आत्मा तदा सजातीय इवावभाति ।
स्वप्नार्थवत्तस्य मृषात्मकत्वात्तदप्रतीतौ स्वयमेष आत्मा ।
ब्रह्मैकतामेति पृथङ् न भाति ततः सजातीयकृतो न भेदः ॥६९३॥

जब बुद्धि आदि उपाधि है और उससे अभिन्न आत्मा प्रतीत होती है तब आत्मा सजातीय भेद वाली-सो प्रतीत होती है । स्वप्नमें देखे पदार्थके समान उस उपाधिके मिथ्याभूत होनेसे उस उपाधिके प्रतीत न होनेपर स्वयं यह आत्मा ब्रह्मरूप अद्वितीय रूपको प्राप्त होती है, पुनः पृथक् प्रतीत नहीं होती, इससे सजातीय कृत भेद नहीं है ॥

घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा ।
उपाध्यभावे त्वात्मैष स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥६९४॥
पूर्ण एव सदाकाशो घटे सत्यप्यसत्यपि ।
नित्यपूर्णस्य नभसो विच्छेदः केन सिध्यति ॥६९५॥

जैसे घटके अभाव होनेपर घटाकाश महाकाश है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधिके अभाव होने पर तो यह आत्मा स्वयं केवल ब्रह्म ही है ॥ घटके होनेपर भी अथवा न

होनेपर भी सदा आकाश पूर्ण ही है, भला नित्यपूर्ण महान् वस्तुका भेद किससे सिद्ध हो सकता है ॥६९४-६९५॥

अच्छिन्नश्छिन्नवद्भाति पामराणां घटादिना ।
ग्रामक्षेत्राद्यवधिभिर्भिन्नेव वसुधा यथा ॥६९६॥
तथैव परमं ब्रह्म महतां च महत्तमम् ।
परिच्छिन्नमिवाभाति भ्रान्त्या कल्पितवस्तुना ॥६९७॥

जैसे पामरों को असीम आकाश घट आदिके द्वारा परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, ग्राम-क्षेत्र आदिकी सीमाओं से पृथिवी भिन्न सी प्रतीत होती है, वैसे ही **'महतो महीयान्'** 'महान्से भी अधिक महान्' परब्रह्म भ्रान्तिसे कल्पितवस्तुके द्वारा परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है ॥६९६-६९७॥

तस्माद्ब्रह्मात्मनोर्भेदः कल्पितो न तु वास्तवः ।
अत एव मुहुः श्रुत्याप्येकत्वं प्रतिपाद्यते ॥६९८॥

इसलिए ब्रह्म और जीवका भेद कल्पित है, वास्तविक नहीं है। अतएव श्रुतिने भी वार-वार आत्माके एकत्वका प्रतिपादन किया है ॥६९८॥

ब्रह्मात्मनोस्तत्त्वमसीत्यद्वयत्वोपपत्तये ।
प्रत्यक्षादिविरोधेन वाच्ययोर्नोपयुज्यते ।
तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं लक्ष्ययोरेव सिध्यति ॥६९९॥

'तत्त्वमसि' (तू आत्मा ब्रह्म है) यह श्रुति वाक्य जीव ब्रह्मको एकताका ज्ञान करानेके लिए है। परन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके साथ विरोध होनेसे दोनोंके वाच्यार्थोंमें एकत्व उपयुक्त नहीं होता, इसलिए 'तत्' और 'त्वम्' के लक्ष्य पदार्थोंमें ही एकत्व सिद्ध होता है ॥६९९॥

॥ शिष्य :—॥

स्यात्तत्त्वंपदयोः स्वामिन्नर्थः कतिविधो मतः ।
पदयोः को नु वाच्यार्थो लक्ष्यार्थ उभयोश्च कः ॥७००॥

हे स्वामिन् ! 'तत्' और 'त्वम्' पदोंका अर्थ कितने प्रकारका माना गया है और दोनों पदोंका वाच्यार्थ क्या है और लक्ष्यार्थ क्या है ? ॥७००॥

वाच्यैकत्वविवक्षायां विरोधः कः प्रतीयते ।
लक्ष्यार्थयोरभिन्नत्वे स कथं विनिवर्तते ॥७०१॥
एकत्वकथने का वा लक्षणाऽङ्गीकृता ।
एतत्सर्वं करुणया सम्यक्त्वं प्रतिपादय ॥७०२॥

वाच्यार्थोंकी एकता विवक्षा करनेपर कौन-सा विरोध प्रतीत होता है और लक्ष्यार्थोंकी अभिन्नता-एकता होनेपर वह कैसे निवृत्त होता है ॥ यहाँ एकत्वके कथनमें कौन-सी लक्षणा स्वीकार की गई है ? आप कृपाकर यह सब भली-भाँति प्रतिपादन कीजिए ॥

|| श्रीगुरुः—'तत् त्वम्' पदार्थोंका निरूपण ||

शृणुष्वावहितो विद्वन् अद्य ते फलितं तपः ।
वाक्यार्थश्रुतिमात्रेण सम्यग्ज्ञानं भविष्यति ||७०३||
यावन्न तत्त्वंपदयोरर्थः सम्यग्विचार्यते ।
तावदेव नृणां बन्धो मृत्युसंसारलक्षणः ||७०४||
अवस्था सच्चिदानन्दाखण्डैकरसरूपिणी ।
मोक्षः सिध्यति वाक्यार्थापरोक्षज्ञानतः सताम् ||७०५||
वाक्यार्थ एव ज्ञातव्यो मुमुक्षोर्भवमुक्तये ।
तस्मादवहितो भूत्वा शृणु वक्ष्ये समासतः ||७०६||

हे विद्वन् ! तू सावधान होकर सुन, आज तेरा तप सफल हो गया, क्योंकि **'तत्त्वमसि'** वाक्यार्थके श्रवणमात्रसे तुझे सम्यग्ज्ञान हो जायगा ।। जबतक **'तत्'** और **'त्वम्'** पदके अर्थका भलीप्रकार विचार नहीं किया जाता, तबतक ही मृत्युसंसाररूप बन्ध मनुष्योंको है ।। **'तत्त्वमसि'** वाक्यार्थके अपरोक्षज्ञानसे सत्पुरुषोंको सच्चिदानन्द अखण्ड एकरसरूप अवस्थात्मक मोक्ष सिद्ध होता है ।। इसलिए मुमुक्षुको संसारबन्धनसे मुक्ति पानेके लिए **'तत्त्वमसि'** वाक्यार्थको ही जानना चाहिए । इससे मैं उसे संक्षेपमें कहूँगा, तू सावधान होकर सुन ! ।।७०३-७०६।।

अर्था बहुविधाः प्रोक्ता वाक्यानां पण्डितोत्तमैः ।
वाच्यलक्ष्यादिभेदेन प्रस्तुतं श्रूयतां त्वया ||७०७||

श्रेष्ठ पण्डितोंने वाच्य और लक्ष्यादि भेदसे वाक्योंके बहुत प्रकारके अर्थ कहे हैं, तुमने वाच्य और लक्ष्य आदि भेदसे जो प्रश्न प्रस्तुत किया है उसे सुनिये ।।७०७।।

|| तत्पदार्थः ||

वाक्ये तत्त्वमसीत्यत्र विद्यते यत्पदत्रयम् ।
तत्रादौ विद्यमानस्य तत्पदस्य निगद्यते ||७०८||

'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें जो 'तत्, त्वम्, असि' तीन पद विद्यमान् हैं । उनमें प्रथम विद्यमान 'तत्' पदको कहा जाता है ।।७०८।।

|| वाच्यार्थ-विरोध ||

शास्त्रार्थकोविदैरर्थो वाच्यो लक्ष्य इति द्विधा ।
वाच्यार्थं ते प्रवक्ष्यामि पण्डितैर्य उदीरितः ||७०९||

शास्त्रके अर्थके ज्ञाता विद्वानोंने अभिधावृत्तिसे और लक्षणावृत्तिसे वाच्य और लक्ष्य इसप्रकार दो प्रकारका अर्थ कहा है । जो अर्थ पण्डितोंने कहा है, उस वाच्यार्थको तुझे कहूँगा ।।७०९।।

समष्टिरूपमज्ञानं साभासं सत्त्वबृंहितम् ।
वियदादिविराडन्तं स्वकार्येण समन्वितम् ॥७१०॥
चैतन्यं तदवच्छिन्नं सत्यज्ञानादिलक्षणम् ।
सर्वज्ञत्वेश्वरत्वान्तर्यामित्वादिगुणैर्युतम् ॥७११॥
जगत्स्रष्टृत्वपातृत्वसंहर्तृत्वादिधर्मकम् ।
सर्वात्मना भासमानं यदमेयं गुणैश्च तत् ॥७१२॥
अव्यक्तमपरं ब्रह्म वाच्यार्थ इति कथ्यते ।
नीलमुत्पलमित्यत्र यथा वाक्यार्थसंगतिः ॥७१३॥
तथा तत्त्वमसीत्यत्र नास्ति वाक्यार्थसंगतिः ।
पटाद्व्यावर्तते नील उत्पलेन विशेषितः ॥७१४॥
शौक्ल्याद्व्यावर्तते नीलेनोत्पलं तु विशेषितम् ।
इत्थमन्योन्यभेदस्य व्यावर्तकतया तयोः ॥७१५॥
विशेषणविशेष्यत्वसंसर्गस्येतरस्य वा ।
वाक्यार्थत्वे प्रमाणान्तरविरोधो न विद्यते ॥७१६॥

सत्त्वगुणकी अधिकतावाला आभासयुक्त समष्टिरूप अज्ञान आकाशादिसे विराटपर्यन्त अपने कार्य सहित तदवच्छिन्न सत्यज्ञानादिरूप चैतन्य सर्वज्ञत्व, ईश्वरत्व, अन्तर्यामित्व आदि गुणोंसे युक्त, जगत् स्रष्टृत्व, पालयतृत्व, संहारकर्तृत्व आदि धर्मोंवाला है । सर्वात्म-रूपसे प्रकाशमान जो गुणोंकर अमेय-असीम गुणोंवाला है, वह अव्यक्त परंब्रह्म 'तत्' पदका वाच्यार्थ है, ऐसा कहा जाता है । **'नीलमुत्पलम्'** 'नीलगुण विशिष्ट कमल-नीला-कमल' जैसे यहाँ वाक्यार्थकी संगति है, वैसे **'तत्त्वमसि'** यहाँ वाक्यार्थकी संगति नहीं है । नीलपद उत्पलशब्दसे विशेषित होकर पटसे व्यावृत्त (पृथक्) होता है अर्थात् पट भी नीला होता है, नील पदके साथ यदि उत्पल-कमल शब्द न होता तो नील पदसे नीला पट भी समझा जाता, परन्तु उत्पलपदके सम्बन्धसे नील पद पटसे व्यावृत हो जाता है । एवं नीलशब्दसे उत्पल पद विशेषित होनेसे शुक्लकमलसे उत्पल व्यावृत्त हो जाता है, क्योंकि उत्पल-कमल शुक्ल भी है, परन्तु उत्पलके साथ नीलपद जोड़नेसे शुक्लसे व्यावृत्त हो जाता है । इसप्रकार नील और कमलके परस्पर भेदका व्यावर्तक होनेसे दोनोंके विशेषण-विशेष्यभाव संसर्गका अथवा अन्य वाक्यार्थत्वमें प्रत्य-क्षादि प्रमाणोंका विरोध विद्यमान नहीं है ॥७१०-७१६॥

अतः संगच्छते सम्यग्वाक्यार्थो बाधवर्जितः ।
एवं तत्त्वमसीत्यत्र वाक्यार्थो न समञ्जसः ॥७१७॥

इसलिए **'नीलमुत्पलम्'** जैसे यहाँ बाधरहित वाक्यार्थ अच्छी तरह संगत होता है,

वैसे 'तत्त्वमसि' यहाँपर वाक्यार्थ भली-भाँति घटता नहीं है ॥७१७॥

तदर्थस्य परोक्षत्वादिविशिष्टचितेरपि ।
त्वमर्थस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचितेरपि ॥७१८॥
तथैवान्योन्यभेदस्य व्यावर्तकतया तयोः ।
विशेषणविशेष्यत्व संसर्गस्येतरस्य वा ॥७१९॥
वाक्यार्थत्वे विरोधोऽस्ति प्रत्यक्षादिकृतस्ततः ।
संगच्छते न वाक्यार्थस्तद्विरोधं च वच्मि ते ॥७२०॥

'तत्' अर्थ-परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' अर्थ-अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्यका भी, उसीप्रकार दोनोंके परस्पर भेदके व्यावर्तकरूपसे विशेषण-विशेष्यभाव संसर्गके अथवा अन्यके वाच्यार्थत्वमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणकृत विरोध है, इसलिए वाक्यार्थ ठीक नहीं बैठता, अब इस विरोधको तुझे कहता हूँ ॥७१८-७२०॥

सर्वेशत्वस्वतन्त्रत्वसर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ।
सर्वोत्तमः सत्यकामः सत्यसंकल्प ईश्वरः ॥७२१॥
तत्पदार्थस्त्वमर्थस्तु किञ्चिज्ज्ञो दुःखजीवनः ।
संसार्ययं तद्गतिको जीवः प्राकृतलक्षणः ॥७२२॥

सर्वेश्वरत्व, स्वतन्त्रत्व, सर्वज्ञत्वादि गुणोंसे सर्वोत्तम, सत्यकाम, सत्यसंकल्प ईश्वर 'तत्' पदका वाच्यार्थ है। अल्पज्ञ, दुःखी जीवनवाला, संसारी, ईश्वर द्वारा गतिवाला प्राकृतलक्षणवाला यह जीव 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ है ॥७२१-७२२॥

कथमेकत्वमनयोर्घटते विपरीतयोः ।
प्रत्यक्षेण विरोधोऽयमुभयोरुपलभ्यते ॥७२३॥
विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात्परस्परविलक्षणौ ।
जीवेशौ वह्नितुहिनाविव शब्दार्थतोऽपि च ॥७२४॥
प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादित्यैक्ये तयोः परित्यक्ते ।
श्रुतिवचनविरोधो भवति महान्स्मृतिवचनविरोधश्च ॥७२५॥

इसप्रकार विपरीत स्वभाववाले जीव और ईश्वर इन दोनोंका एकत्व कैसे हो सकता है ? जबकि दोनोंमें प्रत्यक्षमें यह विरोध उपलब्ध होता है ॥ अग्नि और बरफके समान परस्पर विलक्षण जीव और ईश्वर विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होनेसे और शब्दोंके अर्थसे भी दोनोंमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरोध होगा, इससे दोनोंके एकत्वका परित्याग करने पर तो श्रुतिवचन और स्मृतिवचनका महान् विरोध होता है ॥७२३-७२५॥

श्रुत्याप्येकत्वमनयोस्तात्पर्येण निगद्यते ।
मुहुस्तत्त्वमसीत्यस्मादङ्गीकार्यं श्रुतेर्वचः ॥७२६॥

श्रुति भी जीव और ईश्वरके एकत्व को तात्पर्यसे कहती है, इसलिए बार बार उक्त **'तत्त्वमसि'** इस श्रुतिवचनको अङ्गीकार करना चाहिए ।।७२६।।

वाक्यार्थत्वे विशिष्टस्य संसर्गस्य च वा पुनः ।
अयथार्थतया सोऽयं वाक्यार्थो न मतः श्रुतेः ।।७२७।।

यदि विशेषण-विशेष्यभाव अथवा सम्बन्धको **'तत्त्वमसि'** का वाक्यार्थत्व हो तो अयथार्थ होनेके कारण यह वाक्यार्थ श्रुतिको मान्य नहीं है ।।७२७।।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः श्रुतिसंमतः ।
स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य सन्मात्रत्वं पुनः पुनः ।।७२८।।
दर्शयित्वा सुषुप्तौ सद्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ।
उपपाद्य सदेकत्वं प्रदर्शयितुमिच्छया ।।७२९।।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्त्यैव सदात्मनोः ।
ब्रवीति श्रुतिरेकत्वं ब्रह्मणोऽद्वैतसिद्धये ।।७३०।।

किन्तु अखण्ड एक रस रूपसे **'तत्त्वमसि'** का वाक्यार्थ श्रुतिसम्मत है। श्रुति स्थूल सूक्ष्म जगत्को सन्मात्रत्व बार बार दिखलाकर सुषुप्तिमें आत्माकी उस ब्रह्मके साथ अभिन्नताका उपपादन करती है और सद्ब्रह्मके साथ एकता दिखलानेकी इच्छासे **'एत-दात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा'** (छां० ६।८।७) (यह सब आत्मा है) इस उक्तिसे ही श्रुति ब्रह्मके अद्वितीयत्वकी सिद्धिके लिए ब्रह्म और आत्माकी एकताको कहती है ।७३०।

सति प्रपञ्चे जीवे वाद्वैतत्वं ब्रह्मणः कुतः ।
अतस्तयोरखण्डत्वमेकत्वं श्रुतिसंमतम् ।।७३१।।

प्रपञ्च अथवा जीवके होनेपर ब्रह्ममें अद्वितीयत्व कैसे हो सकता है? इसलिए जीव और ब्रह्मका अखण्डत्व और एकत्व श्रुति सम्मत है ।।७३१।।

विरुद्धांशपरित्यागात्प्रत्यक्षादिर्न बाधते ।
अविरुद्धांशग्रहणान्न श्रुत्यापि विरुध्यते ।।७३२।।

'तत्त्वमसि' वाक्योंमें **'तत्'** पदका अर्थ परोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य है और **'त्वम्'** पदका अर्थ अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है। इनमें परोक्षत्व और अपरोक्षत्व आदि विरोधी अंशके परित्यागसे प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधित नहीं होते, और अविरुद्ध चैतन्य अंशका ग्रहण करनेसे श्रुतिके साथ भी विरोध नहीं होता ।।७३२।।

।। लक्ष्यार्थ निरूपणम् ।।

लक्षणा ह्युपगन्तव्या ततो वाक्यार्थसिद्धये ।
वाच्यार्थानुपपत्त्यैव लक्षणाभ्युपगम्यते ।।७३३।।

इससे **'तत्त्वमसि'** वाक्यार्थकी सिद्धिके लिए लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि वाच्यार्थकी अनुपपत्तिसे ही लक्षणा स्वीकारकी जाती है ।।७३३।।

सम्बन्धानुपपत्त्या च लक्षणेति जगुर्बुधाः ।
गङ्गायां घोष इत्यादौ या जहल्लक्षणा मता ॥७३४॥
न सा तत्त्वमसीत्यत्र वाक्य एषा प्रवर्तते ।
गङ्गाया अपि घोषस्याधाराधेयत्वलक्षणम् ॥७३५॥

सम्बन्धकी अनुपपत्ति (ठीक न बैठनेसे) ही लक्षणा होती है, ऐसा पण्डितलोग कहते हैं, 'गङ्गायां घोषः' 'गङ्गामें घासकी झोपड़ी' इत्यादि स्थलोंमें जो जहत् लक्षणा मानी गई है, वह 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकती, गङ्गा और घोषका भी आधाराधेयभाव सम्बन्ध है ॥७३४-७३५॥

सर्वो विरुद्धवाक्यार्थस्तत्र प्रत्यक्षतस्ततः ।
गङ्गासम्बन्धवत्तीरे लक्षणा संप्रवर्तते ॥७३६॥

'गङ्गाके प्रवाहमें ग्वालोंका घर' यहाँ प्रत्यक्षसे यह सब वाक्यार्थ विरुद्ध है, क्योंकि गङ्गाके प्रवाहमें ग्वालोंका घोष बन नहीं सकता वह तो प्रवाहमें बह जायेगा। इसलिए गङ्गाके सम्बन्धवाले तटमें लक्षणा प्रवृत्त होती है अर्थात् गङ्गासम्बन्धी तटपर ग्वालोंका घोष है, यह अर्थ सङ्गत है ॥७३६॥

तथा तत्त्वमसीत्यत्र चैतन्यैकत्वलक्षणे ।
विवक्षिते तु वाक्यार्थेऽपरोक्षत्वादिलक्षणः ॥७३७॥
विरुध्यते भागमात्रो न तु सर्वो विरुध्यते ।
तस्माज्जहल्लाक्षणायाः प्रवृत्तिर्नात्र युज्यते ॥७३८॥

वैसे ही 'तत्त्वमसि' यहाँपर चैतन्य एकत्वरूप वाक्यार्थके विवक्षित होनेपर तो अपरोक्षत्वादिरूप भागमात्र विरुद्ध होता है सब अर्थ तो विरुद्ध नहीं होता, इसलिए 'तत्त्वमसि' वाक्यमें जहत्लक्षणाकी प्रवृत्ति युक्त नहीं है ॥७३७-७३८॥

वाच्यार्थस्य तु सर्वस्य त्यागे न फलमीक्ष्यते ।
नालिकेरफलस्येव कठिनत्वधिया नृणाम् ॥७३९॥

यदि मनुष्य कठिनत्व बुद्धिसे नारियल फलको त्याग दे तो कुछ भी फल नहीं मिलता, वैसे ही 'तत्त्वमसि' के सब वाच्यार्थको त्याग देनेपर कुछ भी फल नहीं देखा जाता है ॥७३९॥

गङ्गापदं यथा स्वार्थं त्यक्त्वा लक्षयते तटम् ।
तत्पदं त्वंपदं वापि त्यक्त्वा स्वार्थं यथाखिलम् ॥७४०॥
तदर्थं वा त्वमर्थं वा यदि लक्षयति स्वयम् ।
तदा जहल्लक्षणायाः प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥७४१॥

न शङ्कनीयमित्यार्यैर्ज्ञातार्थे न हि लक्षणा ।
तत्पदं त्वंपदं वापि श्रूयते च प्रतीयते ॥७४२॥

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्यमें जैसे गङ्गा पद अपने जल प्रवाहरूप अर्थका त्यागकर तटको लक्षित करता है अर्थात् **'गङ्गायां घोषः'** इसका जहल्लक्षणासे 'गङ्गा सम्बन्धी तटपर घोष है', यह अर्थ होता है, वैसे **'तत्त्वमसि'** वाक्यमें 'तत्' पद अथवा **'त्वम्'** पद अपने समस्त अर्थका परित्यागकर यदि 'तत्' पदके अर्थको अथवा **'त्वम्'** पदके अर्थको स्वयं लक्षित करता है तो जहल्लक्षणाकी प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसी श्रेष्ठ पुरुषोंको शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञात अर्थमें लक्षणा नहीं होती । 'तत्' पद अथवा **'त्वम्'** पद सुना जाता है और प्रतीत भी होता है ॥७४०-७४२॥

॥ अजहल्लक्षणा का विचार ॥

तदर्थे च कथं तत्र संप्रवर्तेत लक्षणा ।
अत्र शोणो धावतीति वाक्यवन्न प्रवर्तते ॥७४३॥
अजहल्लक्षणा वापि सा जहल्लक्षणा यथा ।
गुणस्य गमनं लोके विरुद्धं द्रव्यमन्तरा ॥७४४॥

'तत्त्वमसि' इस वाक्यके 'तत्' पदके अर्थमें **'गङ्गायां घोषः'** इसके समान जैसे जहल्लक्षणा सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त नहीं होती, वैसे यहाँ **'शोणो धावति'** (लाल रङ्ग दौड़ता है) इस वाक्यके समान वह अजहल्लक्षणा भी प्रवृत्त नहीं होती, क्योंकि द्रव्यके बिना गुणका गमन लोकमें विरुद्ध है अर्थात् देखा नहीं जाता ॥७४३-७४४॥

अतस्तमपरित्यज्य तद्गुणाश्रयलक्षणः ।
लक्ष्यादिर्लक्ष्यते तत्र लक्षणासौ प्रवर्तते ॥७४५॥

द्रव्यके बिना गुणका गमन असम्भव है, इसलिए **'शोणो धावति'** इस वाक्यमें उस लाल गुणको न छोड़कर उस गुणके आश्रयरूप लक्ष्य अश्व आदि लक्षित होते हैं इससे यहाँ यह अजहल्लक्षणा प्रवृत्त होती है । जहाँ स्वार्थका परित्याग न कर स्व सम्बन्धीका ग्रहण हो वहाँ अजहत्लक्षणा होती है ॥७४५॥

वाक्ये तत्त्वमसीत्यत्र ब्रह्मात्मैकत्वबोधके ।
परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचितोर्द्वयोः ॥७४६॥
एकत्वरूपवाक्यार्थो विरुद्धांशाविवर्जनात् ।
न सिध्यति यतस्तस्मान्नाजहल्लक्षणा मता ॥७४७॥

क्योंकि जीव और ब्रह्मके एकत्व बोधक **'तत्त्वमसि'** इस वाक्यमें परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य दोनोंके परोक्षत्वादि और अपरोक्षत्वादि विरुद्ध भागके त्यागके बिना जीवब्रह्म एकत्वरूप वाक्यार्थ सिद्ध नहीं होता, इसलिए यहाँ अजहल्लक्षणा अभिमत नहीं है ॥७४६-७४७॥

॥ भागत्यागलक्षणाकी आवश्यकता ॥

तत्पदं त्वंपदं चापि स्वकीयार्थविरोधिनम् ।
अंशं सम्यक्परित्यज्य स्वाविरुद्धांशसंयुतम ॥७४८॥
तदर्थं वा त्वमर्थं वा सम्यग्लक्षयतः स्वयम् ।
भागलक्षणया साध्यं किमस्तीति न शंक्यताम् ॥७४९॥

'तत्' पद अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थके विरोधी अंशका सम्यक् परित्यागकर अपने-अपने अविरोधी भागसे युक्त हो 'तत्' पदके अर्थ-परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्यको अथवा 'त्वम्' पदके अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यको भलीप्रकारसे स्वयं लक्षित करें तो भागलक्षणासे क्या साध्य-फल होगा ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥७४९॥

अविरुद्धं पदार्थान्तरांशं स्वांशं च तत्कथम् ।
एकं पदं लक्षणया संलक्षयितुमर्हति ॥७५०॥

यदि कहो कि एक पदमें ही लक्षणा क्यों नहीं करते दोनों पदोंमें लक्षणाकी क्या आवश्यकता है ? तो उसका समाधान यह है—'तत्' अथवा 'त्वम्' वह एक पद अन्य पदार्थके अविरुद्ध अंशको और अपने अंशको लक्षणाद्वारा कैसे सम्यक् लक्षितकर सकता है ? ॥७५०॥

पदान्तरेण सिद्धायां पदार्थप्रमितौ स्वतः ।
तदर्थप्रत्ययापेक्षा पुनर्लक्षणया कुतः ॥७५१॥

'तत्' अथवा 'त्वम्' यदि किसी पदके द्वारा अन्य पदार्थका ज्ञान स्वयं सिद्ध हो तो पुनः लक्षणाके द्वारा उस पदार्थके ज्ञानकी अपेक्षा ही क्यों होगी ॥ **'जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा'** इस भेदसे लक्षणा तीन प्रकारकी होती है । जहत् शब्दका अर्थ त्याग, अजहत् शब्दका अर्थ अत्याग और जहदजहत् शब्दका अर्थ त्याग एवं अत्याग है । **'गङ्गायां घोषः'** यहाँपर गङ्गाशब्दका मुख्यार्थ भागीरथ द्वारा लाया जलप्रवाह है, उसमें घोषका होना संभव नहीं है, इसलिए **'शक्यसम्बन्धो लक्षणा'** इससे गङ्गाके शक्य-वाच्यार्थ-प्रवाहका सम्बन्ध तटके साथ है, इससे गङ्गाके प्रवाहका त्यागकर उसके सम्बन्धी तटमें लक्षणा की जाती है । इससे 'गङ्गाके तटपर घोष है' यह वाक्यार्थ होता है । 'यहाँ गङ्गाके मुख्यार्थ जलप्रवाहका त्याग किया गया है, इससे यह जहल्लक्षणा है ।·'शोणो धावति' 'लालरङ्ग दौड़ता है' लालवर्णरूप गुणका दौड़ना असम्भव है, क्योंकि गुणमें क्रिया नहीं होती है, इसलिए लालवर्णरूप गुण अपनेको न त्यागकर अपने आश्रय अश्वको लक्षित करता है, इससे यह अजहल्लक्षणा है । **'तत्त्वमसि'** इस वाक्यमें **'तत्'** पदका अर्थ परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य और **'त्वम्'** पदका अर्थ अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है । यहाँ दोनोंके अर्थोंमें परोक्षत्वादि विशिष्टता और

अपरोक्षत्वादि विशिष्टतारूप विरोधी भागका त्याग किया गया और दोनोंके अविरोधी अंश चैतन्यका त्याग नहीं किया गया है, इसप्रकार यहाँ एक भागका त्याग और दूसरे भागका अत्याग होनेके कारण 'जहदजहल्लक्षणा' होती है। इसीका अन्य नाम भागलक्षणा अथवा भागत्यागलक्षणा भी है ॥७५१॥

तस्मात्तत्त्वमसीत्यत्र लक्षणा भागलक्षणा।
वाक्यार्थसत्त्वाखण्डैकरसतासिद्धये मता ॥७५२॥

इसलिए '**तत्त्वमसि**' इस वाक्यमें वाक्यार्थ सत्त्व अखण्ड एकरसत्वकी सिद्धिके लिए लक्षणा भागलक्षणा भागत्यागलक्षणा मानी गई है ॥७५२॥

॥ भागत्यागलक्षणाका लक्षण ॥

भागं विरुद्धं संत्यज्याविरोधो लक्ष्यते यदा।
सा भागलक्षणेत्याहुर्लक्षणज्ञा विचक्षणाः ॥७५३॥

विरोधी भागका परित्यागकर जब अविरोध लक्षित होता है, वह भागलक्षणा है, ऐसा लक्षणोंके ज्ञाता विद्वान् लोग कहते हैं ॥७५३॥

सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं वाक्यार्थ एव वा।
देवदत्तैक्यरूपस्ववाक्यार्थानवबोधकम् ॥७५४॥
देशकालादिवैशिष्ट्यं विरुद्धांशं निरस्य च।
अविरुद्धं देवदत्तदेहमात्रं स्वलक्षणम् ॥७५५॥
भागलक्षणया सम्यग्लक्षयत्यनया यथा।
तथा तत्त्वमसीत्यत्र वाक्यं वाक्यार्थ एव वा ॥७५६॥
परोक्षत्वापरोक्षत्वादविशिष्टचितोर्द्वयोः।
एकत्वरूपवाक्यार्थविरुद्धांशमुपस्थितम् ॥७५७॥
परोक्षत्वापरोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिलक्षणम्।
बुद्ध्यादिस्थूलपर्यन्तमाविद्यकमनात्मकम् ॥७५८॥
परित्यज्य विरुद्धांशं शुद्धचैतन्यलक्षणम्।
वस्तु केवलसन्मात्रं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ॥७५९॥

जैसे '**सोऽयं देवदत्तः**' 'यह वही देवदत्त है' यह वाक्य अथवा वाक्यार्थ देवदत्तके एकरूप वाक्यार्थके अप्रकाशक देशकालादि विशिष्टतारूप विरोधी भागका परित्यागकर और इस भागलक्षणाद्वारा अविरोधी अंश देवदत्त देहमात्र अपना स्वरूप अच्छी तरह लक्षित होता है। '**तत्त्वमसि**' यहाँ वाक्य अथवा वाक्यार्थ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य इन दोनोंके एकत्वरूप वाक्यार्थमें उपस्थित विरुद्धभाग-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व, सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व आदिरूप बुद्धि आदिसे स्थूल पर्यन्त अविद्या कल्पित अनात्मवस्तुका परित्यागकर अविरुद्ध अंश शुद्ध चैतन्यरूप केवल सन्मात्र-निर्विकल्प

निरञ्जन ब्रह्मवस्तु इस भागलक्षणाद्वारा भली-भाँति लक्षित होता है, तदनन्तर अखण्ड ब्रह्म-भाव प्राप्त होता है ।।७५४-७५९।।

॥ अखण्डार्थ ॥

लक्षयत्यनया सम्यग्भागलक्षणया ततः ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।।७६०।।
निर्विशेषं निराभासमतादृशमनीदृशम् ।
अनिर्देश्यमनाद्यन्तमनन्तं शान्तमच्युतम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं निर्गुणं ब्रह्म शिष्यते ।।७६१।।

समस्त उपाधियोंसे रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप, अद्वितीय, विशेषशून्य-एकरूप आभास-रहित, वैसा नहीं, ऐसा नहीं अर्थात् वह यह कल्पनारहित, अनिर्देश्यम्-अंगुलीके निर्देशसे रहित, अनादि, अनन्त, शान्त, अच्युत, तर्कका अविषय, अविज्ञेय, निर्गुण ब्रह्म अवशिष्ट रहता है ।।७६०-७६१।।

उपाधिवैशिष्ट्यकृतो विरोधो ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।
उपाधिवैशिष्ट्य उदस्यमाने न कश्चिदप्यस्ति विरोध एतयोः ।।७६२।।
तयोरुपाधिश्च विशिष्टता च तद्धर्मभाक्त्वं च विलक्षणत्वम् ।
भ्रान्त्या कृतं सर्वमिदं मृषैव स्वप्नार्थवज्जाग्रति नैव सत्यम् ।।७६३।।

ब्रह्म और जीवका उपाधि-विशिष्टता कृत भेद है । परन्तु दोनोंके एकत्व ज्ञानसे उपाधिकी विशिष्टताके निवृत्त हो जानेपर जीव ब्रह्म दोनोंमें कोई भी विरोध (भेद) नहीं है ।। जीव और ब्रह्मकी उपाधि, विशिष्टता, उपाधिके धर्मका भागी होना परस्पर विलक्षणता भ्रान्तिद्वारा की गई है, यह सब स्वप्न पदार्थके समान मिथ्या ही है, अतएव जाग्रत्में भी सत्य नहीं है ।।७६२-७६३।।

निद्रासूतशरीरधर्मसुखदुःखादिप्रपञ्चोऽपि वा
जीवेशादिभिदापि वा न च ऋतं कर्तुं क्वचिच्छक्यते ।
मायाकल्पितदेशकालजगदीशादिभ्रमस्तादृशः
को भेदोऽस्त्यनयोर्द्वयोस्तु कतमः सत्योऽन्यतः को भवेत् ।।७६४।।

स्वप्नावस्था जन्य शरीरके धर्म, सुख दुःख आदि जगत् अथवा जीव ईश्वरका भेद कहींपर भी सत्य नहीं किये जा सकते अर्थात् ये सत्य नहीं हो सकते, मायासे कल्पित देश, काल, जगत्, ईशादिका भ्रम भी वैसा ही मिथ्या है, इन दोनोंका भेद क्या है, अन्य कारणसे कौन-सा पदार्थ सत्य हो सकता है ? ।।७६४।।

न स्वप्नजागरणयोरुभयोर्विशेषः संदृश्यते क्वचिदपि भ्रमजैर्विकल्पैः ।
यद्द्रष्टृदर्शनमुखैरत एव मिथ्या स्वप्नो यथा ननु तथैव हि जागरोऽपि।।७६५।।

देखे हुएको देखना आदि भ्रमजनित विकल्पोंद्वारा कहींपर भी स्वप्न और जाग्रत् दोनोंका भेद देखनेमें नहीं आता, अतएव मिथ्या है, जैसे स्वप्न मिथ्या है वैसे ही जाग्रत् भी है ॥७६५॥

अविद्याकार्यतस्तुल्यौ द्वावपि स्वप्नजागरौ ।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिकल्पनोभयतः समा ॥७६६॥
अभाव उभयोः सुप्तौ सर्वैरप्यनुभूयते ।
न कश्चिदनयोर्भेदस्तस्मान्मिथ्यात्वमर्हतः ॥७६७॥

स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था दोनों ही अविद्याका कार्य होनेसे एक समान हैं मिथ्या हैं, दोनोंमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि कल्पना भी वैसी मिथ्या ही है। सुषुप्ति कालमें दोनोंका अभाव सभी लोग अनुभव करते हैं, इन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, इसलिए दोनों मिथ्या होने योग्य हैं ॥७६६-७६७॥

भ्रान्त्या ब्रह्मणि भेदोऽयं सजातीयादिलक्षणः ।
कालत्रयेऽपि हे विद्वन् वस्तुतो नैव कश्चन ॥७६८
यत्र नान्यत्पश्यतीति श्रुतिर्द्वैतं निषेधति ।
कल्पितस्य भ्रमाद्भूम्नि मिथ्यात्वावगमाय तत् ॥७६९॥

हे विद्वन् ! सजातीय, विजातीय, स्वगतरूप भेद ब्रह्ममें भ्रान्तिकृत हैं, वस्तुतः वह किसीप्रकार तीनों कालमें भी ब्रह्ममें नहीं है ॥ **'यत्र नान्यत्पश्यति'** (छां० ७।२४।१) (जहाँ अन्य नहीं देखता) यह श्रुति ब्रह्ममें भ्रमसे कल्पितको मिथ्यात्व अवगत करानेके लिए उस द्वैतका निषेध करती है ॥७६८-७६९॥

यतस्ततो ब्रह्म सदाऽद्वितीयं विकल्पशून्यं निरुपाधि निर्मलम् ।
निरन्तरानन्दघनं निरीहं निरास्पदं केवलमेकमेव ॥७७०॥

क्योंकि श्रुति द्वैतका निषेध करती है, इसलिए ब्रह्म सदा अद्वितीय, विकल्परहित, उपाधिरहित, निर्मल, निरन्तर आनन्दघन, इच्छारहित, आश्रयरहित, केवल एक ही है ॥

नैवास्ति काचन भिदा न गुणप्रतीतिर्नो वाक्प्रवृत्तिरपि वा न मनःप्रवृत्तिः ।
यत्केवलं परमशान्तमनन्तमाद्यमानन्दमात्रमवभाति सदद्वितीयम् ॥७७१॥

ब्रह्ममें किसीप्रकारका भेद नहीं, सुख आदि गुणोंकी प्रतीति भी नहीं है, वाणीका व्यापार भी नहीं है मनका व्यापार भी नहीं है **'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'** (तै० ३।४) (जिससे मनके साथ न प्राप्तकर वाणी भी लौटती है) अर्थात् ब्रह्म मन-वाणी आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं है। जो केवल परम शान्त, अनन्त, आद्य (सबसे पहले) सद्रूप अद्वितीय आनन्दमात्र प्रकाशित होता है ॥७७१॥

॥ यही तत्त्व तू है ॥

यदिदं परमं सत्यं तत्त्वं सच्चित्सुखात्मकम् ।
अजरामरणं नित्यं सत्यमेतद्वचो मम ॥७७२॥

जो यह जरामरणसे रहित, परम सत्यस्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप वस्तु है, वह नित्य है, यह मेरा वचन सत्य है ॥७७२॥

न हि त्वं देहोऽसावसुरपि च वाप्यक्षनिकरो
मनो वा बुद्धिर्वा क्वचिदपि तथाहंकृतिरपि ।
न चैषां संघातस्त्वमु भवसि विद्वन् शृणु परं
यदेतेषां साक्षी स्फुरणममलं तत्त्वमसि हि ॥७७३॥

इसलिए यह देह भी तू नहीं है, प्राण भी नहीं है, इन्द्रिय समुदाय भी नहीं है, मन भी नहीं है, अथवा कहीं बुद्धि भी नहीं है तथा अहङ्कार भी नहीं है, इनका संघात भी तू नहीं है, इसलिए हे शिष्य ! भली प्रकारसे सुन ! जो इन सबका साक्षी स्फुरणरूप अमल है वह तू है ॥७७३॥

यज्जायते वस्तु तदेव वर्धते तदेव मृत्युं समुपैति काले ।
जन्मैव ते नास्ति तथैव मृत्युर्नास्त्येव नित्यस्य विभोरजस्य ॥७७४॥

जो वस्तु उत्पन्न होती है वह बढ़ती भी है, वही समय आनेपर मृत्युको प्राप्त होती है, तू नित्य विभु और अज है, इससे तेरा जन्म ही है नहीं । उसीप्रकार तेरी मृत्यु भी नहीं है ॥७७४॥

य एष देहो जनितः स एव सम्मेधते नश्यति कर्मयोगात् ।
त्वमेतदीयास्वखिलास्ववस्थास्ववस्थितः साक्ष्यसि बोधमात्रः ॥७७५॥

जो यह देह कर्मयोगसे उत्पन्न हुई है वह बढ़ती है और नष्ट होती है । तू इसकी बालकपन आदि सब अवस्थाओंमें रहता हुआ भी ज्ञानमात्र और साक्षी है ॥७७५॥

यत्स्वप्रकाशमखिलात्मकमासुषुप्तेरेकात्मनाहमहमित्यवभाति नित्यम् ।
बुद्धेः समस्तविकृतेरविकारि बोद्धृ यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७६॥

जो सुषुप्ति पर्यन्त स्वयं प्रकाश चराचरात्मक [अन्नमयकोशसे आनन्दमयकोश पर्यन्त] अहम्' अहम्, एक आत्मरूपसे नित्य अवभासित होता है, बुद्धिसे और अन्य समस्त विकारोंसे अविकारी, ज्ञानरूप, केवल बोधमात्र जो ब्रह्म है वह तू है ॥७७६॥

स्वात्मन्यनस्तमयसंविदि कल्पितस्य व्योमादिसर्वजगतः प्रददाति सत्ताम् ।
स्फूर्तिं स्वकीयमहसा वितनोति साक्षाद्यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७७॥

नित्यज्ञानरूप अपने स्वरूपमें कल्पित आकाशादि सब जगत्को अस्तित्व प्रदान करता है । अपने तेजसे स्फुरणका विस्तार करता है । ऐसा केवल बोधमात्र जो साक्षात् ब्रह्म है वह तू है ॥७७७॥

सम्यक्समाधिनिरतैर्विमलान्तरङ्गे साक्षादवेक्ष्य निजतत्त्वमपारसौख्यम् ।
संतुष्यते परहंसकुलैरजस्रं यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७८॥

समाधिमें मग्न परमहंसोंका समुदाय अपने निर्मल अन्तःकरणमें असीम सुखरूप अपने स्वरूपका भलीप्रकार साक्षात् अनुभवकर निरन्तर सन्तुष्ट—प्रसन्न रहता है, ऐसा जो केवल ज्ञानमात्र ब्रह्म है वह तू है ॥७७८॥

अन्तर्बहिः स्वयमखण्डितमेकरूपमारोपितार्थवदुदञ्चति मूढबुद्धेः ।
मृत्स्नादिवद्विगतविक्रियमात्मवेद्यं यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७७९॥

अन्तर और बाहर स्वयं अखण्डित एकरूप है, किन्तु अज्ञानीके आरोपित पदार्थके समान उदय-सा अवभासित-सा होता है। सुन्दर मृत्तिका (स्फटिक) के समान विकार रहित, आत्मवेद्य (स्वयंवेद्य) केवल बोधमात्र जो ब्रह्म है वह तू है ॥७७९॥

श्रुत्युक्तमव्ययमनन्तमनादिमध्यमव्यक्तमक्षरमनाश्रयमप्रमेयम् ।
आनन्दसद्घनमनामयमद्वितीयं यद्ब्रह्म तत्त्वमसि केवलबोधमात्रम् ॥७८०॥

जो अव्यय, अनन्त, आदि, मध्य आदिसे रहित, अव्यक्त-अविनाशी, किसीका आश्रय न होनेवाला, प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणका अविषय, रोगरहित, आनन्दरूप, सद्घन, अद्वितीय केवल बोधमात्र जो ब्रह्म है वह तू है ॥७८०॥

शरीरतद्योगतदीयधर्माद्यारोपणं भ्रान्तिवशात्त्वयीदम् ।
न वस्तुतः किञ्चिदतस्त्वजस्त्वं मृत्योर्भयं क्वास्ति तवासि पूर्णः ॥७८१॥

तेरा शरीर, शरीरका सम्बन्ध, जन्म, मरणादि उसके धर्म यह सब भ्रान्तिवश तुझमें आरोपित हैं, वस्तुतः कुछ है नहीं, इसलिए तू अज है, तुझमें मृत्युका भय कहाँ है ? तू तो पूर्ण है ॥७८१॥

यद्यद्दृष्टं भ्रान्तिमत्या स्वदृष्ट्या तत्तत्सम्यग्वस्तुदृष्ट्या त्वमेव ।
त्वत्तो नान्यद्वस्तु किञ्चित्तु लोके कस्माद्भीतिस्ते भवेदद्वयस्य ॥७८२॥

भ्रान्ति युक्त अपनी दृष्टिसे जो जो दृष्ट वस्तु है, भली प्रकार वस्तुस्वरूप दृष्टिसे वह सब तू ही है लोकमें तुमसे भिन्न किञ्चिद् मात्र भी वस्तु नहीं है, तो पुनः तुम अद्वितीय को भय किससे होगा ? ॥७८२॥

पश्यतस्त्वहमेवेदं सर्वमित्यात्मनाखिलम् ।
भयं स्याद्विदुषः कस्मात्स्वस्मान्न भयमिष्यते ॥७८३॥
तस्मात्त्वमभयं नित्यं केवलानन्दलक्षणम् ।
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं ब्रह्मैवासि सदाऽद्वयम् ॥७८४॥

यह सब मैं ही हूँ, इस प्रकार अखिल विश्वको आत्मरूपसे देखते विद्वान्को भय किससे होगा ? अपनेसे तो भय किसीको इच्छित नहीं है अर्थात् अपनेसे भय किसीको

नहीं होता 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (भय वो द्वैतसे ही होता है) यह श्रुतिवाक्य भी है। इससे तू अभय, नित्य, केवल आनन्दस्वरूप, निष्कल, निष्क्रिय शान्तरूप सदा अद्वितीय ब्रह्म ही है ॥७८३-७८४॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयविहीनं ज्ञातुरभिन्नं ज्ञानमखण्डम् ।
ज्ञेयाज्ञेयत्वादिविमुक्तं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८५॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयसे रहित, ज्ञातासे अभिन्न, अखण्ड ज्ञानरूप-ज्ञेयाज्ञेयत्व आदिसे विमुक्त वह शुद्धबुद्ध स्वरूपतत्त्व तू ही है ॥७८५॥

अन्तःप्रज्ञत्वादिविकल्पैरस्पृष्टं यत्तद्दृशिमात्रम् ।
सत्तामात्रं समरसमेकं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८६॥
सर्वाकारं सर्वमसर्वं सर्वनिषेधावधिभूतं यत् ।
सत्यं शाश्वतमेकमनन्तं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८७॥

अन्तःप्रज्ञत्व, बहिःप्रज्ञत्व आदि विकल्पोंसे जो अलिप्त है वह ज्ञानमात्र है, सत्तामात्र सत्स्वरूप, समरस-निर्विकार एवं शुद्ध-बुद्ध तत्त्व तू है ॥ जो सब आकारोंवाला, सर्वरूप, सब पदार्थोंसे पृथक्, सब निषेधोंका सीमारूप सत्य, शाश्वत, एक, अनन्त, शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म तत्त्व है वह तू है ॥७८७॥

नित्यानन्दाखण्डैकरसं निष्कलमक्रियमस्तविकारम् ।
प्रत्यगभिन्नं परमव्यक्तं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८८॥

नित्यसुखरूप-अखण्ड, एक रस, निष्कल, अविक्रिय, विकार शून्य, आत्मासे अभिन्न परमव्यक्त, निर्मल बोधरूप वह तत्त्व-ब्रह्म तू है ॥७८८॥

त्वं प्रत्यस्ताशेषविशेषं व्योमेवान्तर्बहिरपि पूर्णम् ।
ब्रह्मानन्दं परमद्वैतं शुद्धं बुद्धं तत्त्वमसि त्वम् ॥७८९॥

तू सकल विशेषोंसे रहित, आकाशके समान अन्दर बाहर भी व्यापक, ब्रह्मानन्दरूप परमद्वैत, शुद्ध और बोधरूप तत्त्व तू है ॥७८९॥

ब्रह्मैवाहमहं ब्रह्म निर्गुणं निर्विकल्पकम् ।
इत्येवाखण्डया वृत्त्या तिष्ठ ब्रह्मणि निष्क्रिये ॥७९०॥

मैं ब्रह्म ही हूँ, निर्गुण, निर्विकल्प ब्रह्म मैं हूँ, इसीप्रकार अखण्ड वृत्तिसे निष्क्रिय ब्रह्ममें स्थित हो ॥७९०॥

अखण्डामेवैतां घटितपरमानन्दलहरीं
परिध्वस्तद्वैतप्रमितिममलां वृत्तिमनिशम् ।
अमुञ्चानः स्वात्मन्यनुपमसुखे ब्रह्मणि परे
रमस्व प्रारब्धं क्षपय सुखवृत्त्या त्वमनया ॥७९१॥

इस अखण्ड परमानन्दरूप तरङ्गोंसे युक्त, द्वैत ज्ञानशून्य, निर्मल चित्तवृत्तिको न

छोड़कर तू अनुपमसुखरूप आत्मासे अभिन्न परब्रह्ममें निरन्तर रमणकर और इस सुखाकार वृत्तिसे प्रारब्ध कर्मको नष्ट कर ।।७९१।।

ब्रह्मानन्दरसास्वादतत्परेणैव चेतसा ।
समाधिनिष्ठितो भूत्वा तिष्ठ विद्वन्सदा मुने ।।७९२।।

हे विद्वन्! ब्रह्मानन्द रससे आस्वादनमें तत्पर चित्तसे ही समाधिनिष्ट होकर, हे मुने! सदा स्थित हो ।।७९२।।

।। शिष्यः— ।।

अखण्डाख्या वृत्तिरेषा वाक्यार्थश्रुतिमात्रतः ।
श्रोतुः संजायते किं वा क्रियान्तरमपेक्षते ।।७९३।।

श्रोताको 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थके श्रवणमात्रसे यह अखण्डवृत्ति उत्पन्न हो जाती है अथवा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य क्रियाकी अपेक्षा करती हैं ।।७९३।।

समाधिः कः कतिविधस्तत्सिद्धेः किमु साधनम् ।
समाधेरन्तरायाः के सर्वमेतन्निरूप्यताम् ।।७९४।।

समाधि क्या है अर्थात् समाधि किसे कहते हैं, वह कितने प्रकारकी है? उसकी सिद्धिका साधन क्या है? समाधिके विघ्न कौनसे हैं? यह सब निरूपण कीजिए ।।७९४।।

।। श्रीगुरुः—अधिकारी का लक्षण ।।

मुख्यगौणादिभेदेन विद्यन्तेऽत्राधिकारिणः ।
तेषां प्रज्ञानुसारेणाखण्डा वृत्तिरुदेष्यते ।।७९५।।

इस ब्रह्मविद्यामें मुख्य, गौणादि भेदसे अधिकारी हैं। उनकी बुद्धिके अनुसार चित्तकी अखण्डवृत्ति उदय होगी ।।७९५।।

श्रद्धाभक्तिपुरःसरेण विहितेनैवेश्वरं कर्मणा
संतोष्यार्जिततत्प्रसादमहिमा जन्मान्तरेष्वेव यः ।
नित्यानित्यविवेकतीव्रविरतिन्यासादिभिः साधनै-
र्युक्तः स श्रवणे सतामभिमतो मुख्याधिकारी द्विजः ।।७९६।।

जिसने पूर्व जन्मोंमें ही श्रद्धा भक्तिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मसे ईश्वरको सन्तुष्टकर उसका अनुग्रहरूप महिमा अर्जित कर ली है। जो नित्य, अनित्य वस्तुका विवेक, तीव्र वैराग्य और संन्यास आदि साधनोंसे युक्त है, वह द्विज ब्रह्मविद्याके श्रवणमें मुख्य अधिकारी है, ऐसा सत्पुरुषोंका अभिमत है ।।७९६।।

अध्यारोपापवादक्रममनुसरता देशिकेनात्र वेत्त्रा
वाक्यार्थे बोध्यमाने सति सपदि सतः शुद्धबुद्धेरमुष्य ।
नित्यानन्दाद्वितीयं निरुपममलं यत्परं तत्त्वमेकं
तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्युदयति परमाखण्डताकारवृत्तिः ।।७९७।।

इस ब्रह्मविद्याके विषयमें आध्यारोप—आरोप अपवाद–निषेधके क्रमका अनुसरण करनेवाले ज्ञातागुरुके द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थके बोधित होनेपर तत्काल निर्मल अन्तःकरणवाले इस पुरुषकी नित्य आनन्दरूप अद्वितीय, उपमारहित, निर्मल जो उत्कृष्ट एक तत्त्व है वह ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसी परम अखण्डाकार चित्तकी वृत्ति उदय होती है ॥

अखण्डाकारवृत्तिः सा चिदाभाससमन्विता ।
आत्माभिन्नं परं ब्रह्म विषयीकृत्य केवलम् ॥७९८॥
बाधते तद्गताज्ञानं यदावरणलक्षणम् ।
अखण्डाकारया वृत्त्या त्वज्ञाने बाधिते सति ॥७९९॥

वह चिदाभास युक्त अखण्डाकार चित्तकी वृत्ति आत्मासे अभिन्न केवल परब्रह्मको विषयकर रहती है ॥ अखण्डाकार चित्तकी वृत्तिसे अज्ञानके बाधित होनेपर तो जो आवरणरूप तद्गत अज्ञान है वह भी बाधित हो जाता है ॥७९८-७९९॥

तत्कार्यं सकलं तेन समं भवति बाधितम् ।
तन्तुदाहे तत्कार्यपटदाहो यथा तथा ॥८००॥

जैसे तन्तुके जल जानेपर उसका कार्य वस्त्र भी जल जाता है, वैसे ही अज्ञानके बाधित होनेपर उसका सब कार्य उस अज्ञानके बाधके साथ बाधित हो जाता है ॥८००॥

तस्य कार्यतया जीववृत्तिर्भवति बाधिता ।
उपप्रभा यथा सूर्यं प्रकाशयितुमक्षमा ॥८०१॥
तद्वदेव चिदाभासचैतन्यं वृत्तिसंस्थितम् ।
स्वप्रकाशं परं ब्रह्म प्रकाशयितुमक्षमम् ॥८०२॥

अज्ञानके बाधित होनेपर उस अज्ञानका कार्यरूपसे जीवव्यापार भी बाधित हो जाता है, जैसे दीपक आदिका प्रकाश सूर्यके प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं है, वैसे ही चित्तवृत्तिमें स्थित चिदाभास चैतन्य स्वयं प्रकाशरूप परब्रह्मको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है ॥

प्रचन्डातपमध्यस्थदीपवन्नष्टदीधितिः ।
तत्तेजसाभिभूतं सल्लीनोपाधितया ततः ॥८०३॥
बिम्बभूतपरब्रह्ममात्रं भवति केवलम् ।
यथापनीते त्वादर्शे प्रतिबिम्बमुखं स्वयम् ॥८०४॥
मुखमात्रं भवेत्तद्वदेतच्चोपाधिसंक्षयात् ।
घटाज्ञाने यथा वृत्त्या व्याप्तया बाधिते सति ॥८०५॥
घटं विस्फुरयत्येष चिदाभासः स्वतेजसा ।
न तथा स्वप्रभे ब्रह्मण्यभास उपयुज्यते ॥८०६॥

प्रचण्डधूपके मध्यमें रखे दीपकके समान नष्ट प्रभावाला चिदाभास ब्रह्मके तेजसे अभिभूत होकर उपाधिके लीन होनेके कारण तब केवल बिम्बभूत परब्रह्ममात्र ही रहता है। जैसे दर्पणके हट जानेपर प्रतिबिम्बमुख स्वयं मुखमात्र होता है, वैसे उपाधिके नष्ट हो जानेसे चिदाभास भी परब्रह्मरूपसे स्थित होता है। जैसे व्याप्त चित्तवृत्तिसे घटविषयक अज्ञानके बाधित होनेपर यह चिदाभास [अपने प्रकाशसे घटको प्रकाशित करता है, वैसे स्वयं प्रकाशरूप ब्रह्ममें चिदाभास उपयुक्त नहीं है ॥८०३-८०६॥

अत एव मतं वृत्तिव्याप्यत्वं वस्तुनः सताम् ।
न फलव्याप्यता तेन न विरोधः परस्परम् ॥८०७॥
श्रुत्योदितस्ततो ब्रह्म ज्ञेयं बुद्ध्यैव सूक्ष्मया ।
प्रज्ञामांद्यं भावेद्येषां तेषां न श्रुतिमात्रतः ॥८०८॥

घट आदि जड़ वस्तुओंका आवरण अन्तःकरणकी सत्त्विकवृत्तिसे निवृत्त होता है पुनः घट आदिको वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य प्रकाशित करता है, इससे घट आदिमें वृत्ति-व्याप्यता (वृत्ति कर्मता) और फल व्याप्यता है। इसलिए ब्रह्ममें केवल वृत्तिव्याप्यता है, क्योंकि सात्त्विक चित्तवृत्तिसे (ब्रह्मगत) आवरणकी निवृत्ति होती है, ब्रह्ममें फल-व्याप्यता नहीं, कारण स्वयं प्रकाशरूप होते ही ब्रह्म चिदाभाससे प्रकाशित नहीं है, ऐसा सत्पुरुषोंको अभिमत है, इससे श्रुत्युक्तका परस्पर विरोध नहीं है; इसलिए सूक्ष्म-बुद्धिसे ब्रह्म ज्ञेय है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** (कठ० १।३।१२) (सूक्ष्मदर्शी लोग उसे अतिसूक्ष्म बुद्धिसे अनुभव करते हैं) यह श्रुति भी है। जिनकी बुद्धिमन्द है उनकी तो मनन आदिके विना केवल महावाक्योंके श्रवण मात्रसे अखण्डाकार चित्तकी वृत्ति नहीं होती ॥८०७-८०८॥

॥ श्रवणादि–निरूपणम् ॥

स्यादखण्डाकारवृत्तिर्विना तु मननादिना ।
श्रवणान्मननाद्ध्यानात्तात्पर्येण निरन्तरम् ॥८०९॥
बुद्धेः सूक्ष्मत्वमायाति ततो वस्तूपलभ्यते ।
मन्दप्रज्ञावतां तस्मात्करणीयं पुनः पुनः ॥८१०॥

निरन्तर तत्परतासे श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे बुद्धिमें सूक्ष्मता आती है, इससे वस्तु उपलब्ध होती है। इसलिए भलीप्रकार वस्तुकी उपलब्धिके लिए मन्द बुद्धि-वालोंको पुनः पुनः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने चाहिए। उपक्रम एव उप-संहार आदि छः हेतुओंसे सत्स्वरूप अद्वय, परब्रह्ममें सब वेदान्तवाक्योंके तात्पर्य निश्चय-को विद्वान् लोग श्रवण जानते हैं। वेदान्त वाक्योंके अनुकूल युक्तियोंके द्वारा गुरुमुखसे श्रुत अद्वितीय प्रत्यगात्मवस्तुके अनुचिन्तनको मनन कहते हैं, वह मनन श्रुतार्थके साक्षात्कार-का हेतु है ॥८०९-८१०॥

श्रवणं मननं ध्यानं सम्यग्वस्तूपलब्धये ।
सर्ववेदान्तवाक्यानां षड्भिर्लिङ्गैः सदद्वये ॥८११॥
परे ब्रह्मणि तात्पर्यनिश्चयं श्रवणं विदुः ।
श्रुतस्यैवाद्वितीयस्य वस्तुनः प्रत्यगात्मनः ॥८१२॥
वेदान्तवाक्यानुगुणयुक्तिभिस्त्वनुचिन्तनम् ।
मननं तच्छ्रुतार्थस्य साक्षात्करणकारणम् ॥८१३॥
विजातीयशरीरादिप्रत्ययत्यागपूर्वकम् ।
सजातीयात्मवृत्तीनां प्रवाहकरणं यथा ॥
तैलधारावदच्छिन्नवृत्त्या तद्ध्यानमिष्यते ॥८१४॥
तावत्कालं प्रयत्नेन कर्तव्यं श्रवणं सदा ।
प्रमाणसंशयो यावत्स्वबुद्धेर्न निवर्तते ॥८१५॥
प्रमेयसंशयो यावत्तावत्तु श्रुतियुक्तिभिः ।
आत्मयाथार्थ्यनिश्चित्त्यै कर्तव्यं मननं मुहुः ॥८१६॥
विपरीतात्मधीर्यावन्न विनश्यति चेतसि ।
तावन्निरन्तरं ध्यानं कर्तव्यं मोक्षमिच्छता ॥८१७॥

जैसे देहादिमें आत्मबुद्धिरूप विजातीय प्रतीतिके त्यागपूर्वक तैल धाराके समान अवच्छिन्न वृत्ति जो आत्मरूप सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह करना है वह ध्यान निदिध्यासन कहा जाता है। जब तक अपनी बुद्धिका प्रमाण विषयक सन्देह निवृत्त न हो तबतक प्रयत्नपूर्वक सदा वेदान्त-वाक्योंका श्रवण करना चाहिए। जबतक प्रमेय-ब्रह्म विषयक संशय है तबतक तो श्रुति अनुकूल युक्तियोंसे आत्माके यथार्थ-स्वरूपके निश्चयके लिए बार बार मनन करना चाहिए। जबतक चित्तमें विपरीत आत्मबुद्धि-देह आदिमें आत्म-बुद्धि नष्ट नहीं होती है तबतक मोक्ष चाहने वालेको निरन्तर निदिध्यासन करना चाहिए।

यावन्न तर्केण निरासितोऽपि दृश्यप्रपञ्चस्त्वपरोक्षबोधात् ।
विलीयते तावदमुष्य भिक्षोर्ध्यानादि सम्यक्करणीयमेव ॥८१८॥

मननसे दृश्य प्रपञ्च भले दूर भी कर लिया हो, परन्तु जब तक अपने अपरोक्ष ज्ञानसे वह विलीन नहीं होता, तब तक इस भिक्षु-संन्यासीको उत्तमरीतिसे निदिध्यासन आदि करने ही चाहिए ॥८१८॥

॥ सविकल्प समाधिः ॥

सविकल्पो निर्विकल्प इति द्वेधा निगद्यते ।
समाधिः सविकल्पस्य लक्षणं वच्मि तच्छृणु ॥८१९॥

सविकल्प और निर्विकल्प इस भेदसे समाधि दो प्रकार की कही जाती है, सविकल्प का लक्षण कहता हूँ, उसे सुन ॥८१९॥

ज्ञात्राद्यविलयेनैव ज्ञेये ब्रह्मणि केवले।
तदाकाराकारितया चित्तवृत्तेरवस्थितिः ॥८२०॥
सद्भिः स एव विज्ञेयः समाधिः सविकल्पकः।
मृद एवावभानेऽपि मृण्मयद्विपभानवत् ॥८२१॥
सन्मात्रवस्तुभानेऽपि त्रिपुटी भाति सन्मयी।
समाधिरत एवायं सविकल्प इतीर्यते ॥८२२॥

ज्ञाता ज्ञान आदिके विलय न होनेपर केवल ज्ञेय ब्रह्ममें उसके आकारसे आकार वाली चित्तकी वृत्तिकी जो स्थिति, वही सत्पुरुषों करके सविकल्प समाधि विज्ञेय है। मृत्तिकाके बने हाथीमें मृत्तिकाके भान होनेपर भी मृन्मय हाथीके भानके समान सन्मात्र-ब्रह्ममात्र वस्तुके भान होनेपर भी ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेयरूप सन्मयी त्रिपुटी प्रतीत होती है, अतएव यह सविकल्प समाधि है, ऐसा कहा जाता है ॥८२०-८२२॥

॥ निर्विकल्प समाधि ॥

ज्ञात्रादिभावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिर्दृढा।
मनसो निर्विकल्पः स्यात्समाधिर्योगसंज्ञितः ॥८२३॥

ज्ञाता आदि भावको छोड़कर ज्ञेयरूपमें मनकी दृढ स्थिति योग नाम वाली यह निर्विकल्प समाधि होगी ॥८२३॥

जले निक्षिप्तलवणं जलमात्रतया स्थितम्।
पृथङ् न भाति किं न्वम्भ एकमेवावभासते ॥८२४॥
यथा तथैव सा वृत्तिर्ब्रह्ममात्रतया स्थिता।
पृथङ् न भाति ब्रह्मैवाद्वितीयमवभासते ॥८२५॥

जैसे जलमें प्रक्षिप्त लवण जलमात्रसे ही स्थित है पृथक् प्रतीत नहीं होता, किन्तु एक जल ही अवभासित होता है, वैसे ही केवल ब्रह्मरूपसे स्थित वह वृत्ति पृथक् प्रतीत नहीं होती, केवल अद्वितीय ब्रह्म ही अवभासित होता है ॥८२४-८२५॥

ज्ञात्रादिकल्पनाभावान्मतोऽयं निर्विकल्पकः।
वृत्तेः सद्भावबाधाभ्यामुभयोर्भेद इष्यते ॥८२६॥

ज्ञाता आदिकी कल्पनाके न होनेके कारण यह निर्विकल्प समाधि मानी गई है, चित्तवृत्तिके अस्तित्व और बाध होनेसे सविकल्प और निर्विकल्प दोनों समाधियोंका भेद माना जाता है अर्थात् सविकल्प समाधिमें ज्ञाता आदि त्रिपुटी युक्त वृत्ति रहती है और निर्विकल्प समाधिमें त्रिपुटीरहित केवल ब्रह्मरूपसे वृत्ति रहती है ॥८२६॥

समाधिसुप्त्योर्ज्ञानं चाज्ञानं सुप्त्यात्र नेष्यते।
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्वाविमौ हृदि ॥८२७॥

मुमुक्षोर्यत्नतः कार्यौ विपरीतनिवृत्तये ।
कृतेऽस्मिन्विपरीताया भावनाया निवर्तनम् ॥८२८॥

समाधि और सुषुप्ति में अन्तर यह है कि समाधि में ज्ञान और सुषुप्ति में अज्ञान रहता है, इसलिए यहाँ सुषुप्तिको समाधि नहीं कहा जाता। चित्तमें विद्यमान विपरीत भावनाकी निवृत्तिके लिए सविकल्प और निर्विकल्प ये दोनों समाधि मुमुक्षुको यत्नपूर्वक करनी चाहिए। इनके करनेपर विपरीत भावना-देह आदिमें आत्मबुद्धिकी निवृत्ति, ज्ञानमें अप्रतिबद्धता और सर्वदा सद्रूप आनन्द सिद्ध होता है ॥८२७-८२८॥

॥ दृश्यानुविद्धसविकल्प—दृश्यसेसम्बन्धितसविकल्प ॥

ज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वं सदानन्दश्च सिध्यति ।
दृश्यानुविद्धः शब्दानुविद्धश्चेति द्विधा मतः ॥८२९॥
सविकल्पस्तयोर्यत्तल्लक्षणं वच्मि तच्छृणु ।
कामादिप्रत्ययैर्दृश्यैः संसर्गो यत्र दृश्यते ॥८३०॥
सोऽयं दृश्यानुविद्धः स्यात्समाधिः सविकल्पकः ।
अहंममेदमित्यादिकामक्रोधादिवृत्तयः ॥८३१॥
दृश्यन्ते येन संदृष्ट्रा दृश्याः स्युरहमादयः ।
कामादिसर्ववृत्तिनां द्रष्टारमविकारिणम् ॥८३२॥
साक्षिणं स्वं विजानीयाद्यस्ताः पश्यति निष्क्रियः ।
कामदीनामहं साक्षी दृश्यन्ते ते मया ततः ॥८३३॥
इति साक्षितयात्मानं जानात्यात्मनि साक्षिणम् ।
दृश्यं कामादि सकलं स्वात्मन्येव विलापयेत् ॥८३४॥

दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध इस भेदसे सविकल्प समाधि दो प्रकारकी मानी गई है, उनका जो लक्षण है, उस लक्षणको कहता हूँ, उसे सुन! ॥जहाँ काम आदि ज्ञानरूप दृश्योंके साथ सम्बन्ध देखा जाता है, सो यह दृश्यानुविद्ध-दृश्य सम्बन्धवाली सविकल्प समाधि होगी। जिससे 'मैं मेरा वह' इत्यादि काम क्रोधादि वृत्तियाँ देखी जाती हैं, अहं आदि दृश्य जिससे देखे गये हैं। काम आदि सब वृत्तियोंका द्रष्टा, अविकारी, साक्षी स्वयं अपनेको जो जाने, जो इन सबको व्यापाररहित होकर देखता है, काम आदिका मैं साक्षी हूँ, वे मेरेसे देखे जाते हैं, इसलिए इसप्रकार अपने साक्षीरूपको साक्षीरूपसे अपने शुद्ध अन्तःकरणमें जानता है। इस तरह काम आदि सब दृश्यको अपने स्वरूपमें विलीन करे ॥८२९-८३४॥

नाहं देहो नाप्यसुर्नाक्षवर्गो नाहंकारो नो मनो नापि बुद्धिः ।
अन्तस्तेषां चापि तद्विक्रियाणां साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३५॥

मैं देह नहीं हूँ, प्राण भी नहीं हूँ, इन्द्रिय समुदाय नहीं हूँ, अहंकार नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि भी नहीं हूँ, जहाँ पर इन देहादि और इनके विकारों की समाप्ति हो जाती है अथवा इन देह आदि और उनके विकारों के अन्तर रहनेवाला साक्षीरूप नित्य प्रत्यगात्मा मैं ही हूँ ॥८३५॥

वाचः साक्षी प्राणवृत्तेश्च साक्षी बुद्धेः साक्षी बुद्धिवृत्तेश्च साक्षी।
चक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियाणां च साक्षी साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३६॥

जो वाणीका साक्षी, प्राणवृत्तिका द्रष्टा, बुद्धिका साक्षी, बुद्धि वृत्तिका साक्षी, नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका द्रष्टा है, वह साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा मैं ही हूँ ॥८३६॥

नाहं स्थूलो नापि सूक्ष्मो न दीर्घो नाहं बालो नो युवा नापि वृद्धः ।
नाहं काणो नापि मूको न षण्डः साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३७॥

मैं स्थूल नहीं हूँ, सूक्ष्म भी नहीं हूँ, दीर्घ-लम्बा नहीं हूँ, बालक नहीं हूँ, युवा नहीं, वृद्ध भी नहीं हूँ, काणा नहीं हूँ, मूक—गूँगा नहीं हूँ, नपुंसक भी नहीं हूँ, इस प्रकार देह और इन्द्रियों के धर्म भी मैं नहीं हूँ, किन्तु साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा ही मैं हूँ ।

नास्म्यागन्ता नापि गन्ता न हन्ता नाहं कर्ता न प्रयोक्ता न वक्ता ।
नाहं भोक्ता नो सुखी नैव दुःखी साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३८॥

मैं कहींसे आनेवाला नहीं हूँ, कहीं जानेवाला भी नहीं हूँ, न किसीका हन्ता हूँ, मैं कर्ता नहीं, प्रयोक्ता नहीं, वक्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं, न सुखी और न दुःखी हूँ । किन्तु साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा ही मैं हूँ ॥८३८॥

नाहं योगी नो बियोगी न रागी नाहं क्रोधी नैव कामी न लोभी ।
नाहं बद्धो नापि युक्तो न मुक्तः साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८३९॥

मैं न योगी हूँ, न वियोगी, न रागी, न मैं क्रोधी, न कामी, न लोभी हूँ, मैं न बुद्ध, न किसीसे युक्त और न मुक्त हूँ, किन्तु साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा ही हूँ ॥८३९॥

नान्तःप्रज्ञो नो बहिःप्रज्ञको वा नैव प्रज्ञो नापि चाप्रज्ञ एषः ।
नाहं श्रोता नापि मन्ता न बोद्धा साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि ॥८४०॥

मैं न अन्तःप्रज्ञ वा न बहिःप्रज्ञ हूँ, न प्रज्ञ और यह अप्रज्ञ भी नहीं हूँ, मैं न श्रोता, न मनन करनेवाला मन्ता और न ज्ञाता हूँ, किन्तु साक्षी नित्यप्रत्यगात्मा ही मैं हूँ ! 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्' (माण्डूक्य ७) ।

न मेऽस्ति देहेन्द्रियबुद्धियोगो न पुण्यलेशोऽपि न पापलेशः ।
क्षुधापिपासादिषडूर्मिदूरः सदा विमुक्तोऽस्मि चिदेव केवलः ॥८४१॥

मेरे साथ देह, इन्द्रिय, बुद्धिका कोई सम्बन्ध नहीं है, मुझमें न पुण्यका लेश और न पापका लेश भी है । भूख प्यास, शोक मोह, जन्म-मरण ये छः उर्मी देह आदिके धर्म मुझसे दूर हैं । मैं केवल चिद्रूप सर्वदा मुक्त हूँ ॥८४१॥

अपाणिपादोऽहमवागचक्षुरप्राण एवास्म्यमना ह्यबुद्धिः ।
व्योमेव पूर्णोऽस्मि विनिर्मलोऽस्मि सदेकरूपोस्मि चिदेव केवलः ॥८४२॥

मैं हाथ पैर रहित, वाणी रहित, चक्षु रहित, प्राण रहित, मन रहित एवं बुद्धि-रहित हूँ, आकाशके समान व्यापक हूँ, विशेष शुद्ध हूँ, मैं केवल चिद्रूप सदा एकरूप हूँ ॥

इति स्वमात्मानमवेक्षमाणः प्रतीतदृश्यं प्रविलापयन्सदा ।
जहाति विद्वान्विपरीतभावं स्वाभाविकं भ्रान्तिवशात्प्रतीतम् ॥८४३॥

इसप्रकार अपने स्वरूपको देखता हुआ विद्वान् प्रतीत होनेवाले दृश्यको सदा विलय करता हुआ भ्रान्तिवशसे प्रतीत अविद्याकल्पित विपरीतभावको त्याग देता है ॥८४३॥

॥ मुक्ति क्या और किसको ॥

विपरीतात्मतास्फूर्तिरेव मुक्तिरितीर्यते ।
सदा समाहितस्यैव सैषा सिध्यति नान्यथा ॥८४४॥

देह, इन्द्रिय आदिमें आत्मबुद्धिके विपरीत आत्मरूपसे स्फुरण ही मुक्ति कही जाती है। यह सर्वदा समाहित चित्तवालेको ही सिद्ध होती है, अन्य प्रकारसे नहीं ॥८४४॥

न वेषभाषाभिरमुष्य मुक्तिर्या केवलाखण्डचिदात्मना स्थितिः ।
तत्सिद्धये स्वात्मनि सर्वदा स्थितो जह्यादहन्तां ममतामुपाधौ ॥८४५॥

केवल अखण्ड चिद्रूपसे स्थितिरूप जो यह मुक्ति है, वह केवल मुमुक्षुओंको जैसे वेष, भाषादिके द्वारा प्राप्त नहीं होती है, उसकी सिद्धिके लिए सर्वदा अपने स्वरूपमें स्थित होकर देह आदि उपाधिमें अहंता और ममताको त्याग दे ॥८४५॥

स्वात्मतत्त्वं समालम्ब्य कुर्यात्प्रकृतिनाशनम् ।
तेनैव मुक्तो भवति नान्यथा कर्मकोटिभिः ॥८४६॥

अपने आत्मस्वरूपका आश्रयकर अविद्याका नाश कर, इसीसे मुक्त होता है, अन्य प्रकारके कोटि कर्मोंसे भी मुक्त नहीं होता ॥८४६॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
इत्येवैषा वैदिकी वाग्ब्रवीति क्लेशक्षत्यां जन्ममृत्युप्रहाणिम् ॥८४७॥

आत्मदेवको जानकर सब बन्धनोंका नाश होता है। क्लेशोंके क्षीण होनेसे जन्म-मृत्युका नाश होता है, इसप्रकार यह वैदिक श्रुति क्लेशोंके क्षीक्ष होनेपर जन्म-मृत्युके अभावको कहती है ॥८४७॥

भूयो जन्माद्यप्रसक्तिर्विमुक्तिः क्लेशक्षत्यां भाति जन्माद्यभावः ।
क्लेशक्षत्या हेतुरात्मैकनिष्ठा तस्मात्कार्या ह्यात्मनिष्ठा मुमुक्षोः ॥८४८॥

पुनः कभी जन्म आदिका प्रसङ्ग न हो वही मुक्ति है, क्लेशके क्षय होनेपर जन्मादि-का अभाव प्रतीत होता है, केवल आत्ममात्रमें निष्ठा ही क्लेशके नाशका हेतु है। इसलिए मुमुक्षुको आत्मनिष्ठा ही करनी चाहिए ॥८४८॥

क्लेशाः स्युर्वासना एव जन्तोर्जन्मादिकारणम् ।
ज्ञाननिष्ठाग्निना दाहे तासां नो जन्महेतुता ॥८४९॥

वासना-संस्कार ही क्लेश नामसे जीवके जन्मादिका कारण हैं जीवब्रह्मैक्य ज्ञान-निष्ठारूप अग्निसे इन वासनाओंके दग्ध हो जानेपर पुनः ये जन्मके हेतु नहीं होती ॥८४९॥

बीजान्यग्निप्रदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥८५०॥

जैसे अग्निसे भलीप्रकार दग्ध बीज पुनः अङ्कुरित नहीं होते हैं, वैसे ही ज्ञानाग्निसे दग्ध क्लेशोंद्वारा आत्मा पुनः जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त नहीं होता है ॥८५०॥

तस्मान्मुमुक्षोः कर्तव्या ज्ञाननिष्ठा प्रयत्नतः ।
निःशेषवासनाक्षत्यै विपरीतनिवृत्तये ॥८५१॥

इसलिए मुमुक्षुपुरुषको निःशेष वासनाओंके क्षयके लिए और देह, इन्द्रिय आदि अनात्मामें आत्मबुद्धिरूप विपरीतभावकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न पूर्वक ज्ञाननिष्ठा करनी चाहिए ॥८५१॥

॥ ज्ञाननिष्ठामें कर्मोंका अनुपयोग ॥

ज्ञाननिष्ठातत्परस्य नैव कर्मोपयुज्यते ।
कर्मणो ज्ञाननिष्ठाया न सिध्यति सहस्थितिः ॥८५२॥

ज्ञाननिष्ठामें तत्पर पुरुषके लिए कर्मोंका उपयोग नहीं है, क्योंकि कर्म और ज्ञाननिष्ठा-की कभी भी एक साथ स्थिति नहीं हो सकती है ॥८५२॥

परस्परविरुद्धत्वात्तयोर्भिन्नस्वभावयोः ।
कर्तृत्वभावनापूर्वं कर्म ज्ञानं विलक्षणम् ॥८५३॥

देहात्मबुद्धेर्विच्छित्त्यै ज्ञानं कर्म विवृद्धये ।
अज्ञानमूलकं कर्म ज्ञानं तूभयनाशकम् ॥८५४॥

ज्ञानेन कर्मणो योगः कथं सिध्यति वैरिणा ।
सहयोगो न घटते यथा तिमिरतेजसोः ॥८५५॥

भिन्न भिन्न स्वभाववाले कर्म और ज्ञानके परस्पर विरुद्ध होनेसे दोनोंकी एक साथ स्थिति नहीं हो सकती । कर्म कर्तृत्व भावनापूर्वक है और ज्ञान विलक्षण है अर्थात् कर्तृत्व भावनासे रहित है ॥ ज्ञान कर्मसे विलक्षण इसप्रकार है—ज्ञान देह आदिमें आत्मबुद्धिके नाशके लिए है और यज्ञादि कर्म देहादिमें आत्मबुद्धिको बढ़ानेके लिए है । क्योंकि कर्म अज्ञानमूलक है और ज्ञान तो अज्ञान और अज्ञान जनित कर्म दोनोंका

नाशक है ॥ वैरी ज्ञानके साथ कर्मका सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? जैसे अन्धकार और प्रकाशका साथ रहना नहीं घटता है ॥८५३-८५५॥

निमेषोन्मेषयोर्वापि तथैव ज्ञानकर्मणोः ।
प्रतीचीं पश्यतः पुंसः कुतः प्राचीविलोकनम् ।
प्रत्यक्प्रवणचित्तस्य कुतः कर्मणि योग्यता ॥८५६॥

जैसे नेत्रका बन्दकरना अथवा खोलना एक साथ नहीं होता, वैसे ज्ञान और कर्म एक साथ नहीं होते । पश्चिमदिशाको देखनेवाले पुरुषको पूर्वदिशाका दर्शन कैसे हो सकता है ? वैसे ही प्रत्यग्ब्रह्ममें उन्मुख चित्तवालेकी कर्ममें योग्यता कैसे हो सकती है ॥८५६॥

ज्ञानैकनिष्ठानिरतस्य भिक्षोर्नैवावकाशोऽस्ति हि कर्मतन्त्रे ।
तदेव कर्मास्य तदेव संध्या तदेव सर्वं न ततोऽन्यदस्ति ॥८५७॥

एक ज्ञानमात्र निष्ठा निरत संन्यासीको कर्मकाण्डमें अवकाश नहीं है, संन्यासीका वह ज्ञान ही कर्म है, वही सन्ध्या है, वही सब कुछ है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है ॥८५७॥

बुद्धिकल्पितमालिन्यक्षालनं स्नानमात्मनः ।
तेनैव शुद्धिरेतस्य न मृदा न जलेन च ॥८५८॥

बुद्धिसे कल्पित मलिनताको हटाना ही आत्माका स्नान है । इससे ही इस आत्मा की शुद्धि होती है, न मृत्तिकासे और न जलसे ही शुद्धि होती है ॥८५८॥

स्वस्वरूपे मनःस्थानमनुष्ठानं तदिष्यते ।
करणत्रयसाध्यं यत्तन्मृषा तदसत्यतः ॥८५९॥

अपने स्वरूपमें जो मनकी स्थिति है, वह अनुष्ठान माना जाता है । जो ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन इन तीन करणोंद्वारा साध्य-सिद्ध होता है, उनके असत्य होनेके कारण वह मिथ्या है अर्थात् जो तीन करणोंद्वारा सिद्ध होता है वह सत्य नहीं है, क्योंकि मन आदि स्वयं मिथ्या हैं ॥८५९॥

विनिषिध्याखिलं दृश्यं स्वस्वरूपेण या स्थितिः ।
सा संध्या तदनुष्ठानं तद्दानं तद्धि भोजनम् ॥८६०॥

सम्पूर्ण दृश्यका निषेधकर अपने स्वरूपसे जो स्थिति है, वही सन्ध्या है, वही अनुष्ठान है, वही दान है और वही भोजन है ॥८६०॥

विज्ञातपरमार्थानां शुद्धसत्त्वात्मनां सताम् ।
यतीनां किमनुष्ठानं स्वानुसन्धिं विनापरम् ॥८६१॥
तस्मात्क्रियान्तरं त्यक्त्वा ज्ञाननिष्ठापरो यतिः ।
सदात्मनिष्ठया तिष्ठेन्निश्चलस्तत्परायणः ॥८६२॥

परमार्थतत्त्वके जाननेवाले, शुद्ध अन्तःकरणवाले साधु-यतियोंका अपने स्वरूपके

अनुसन्धानके बिना और क्या अनुष्ठान हो सकता है ।। इसलिए **ज्ञाननिष्ठापरायण यति** अन्य क्रियाओंको छोड़कर सदा आत्मनिष्ठासे निश्चल आत्मपरायण हो स्थित रहे ।।८६१।।

कर्तव्यं स्वोचितं कर्म योगमारोढुमिच्छता ।
आरोहणं कुर्वतस्तु कर्म नारोहणं मतम् ।।८६३।।

तत्त्वज्ञानरूप योगपर आरूढ होनेकी इच्छावालेको वेदान्तवाक्योंके श्रवण, मनन आदि स्वोचित कर्म करने चाहिए । आरोहण करते हुएको यज्ञादि कर्म आरोहण नहीं माना गया है ।।८६३।।

योगं समारोहति यो मुमुक्षुः क्रियान्तरं तस्य न युक्तमीषत् ।
क्रियान्तरासक्तमनाः पतत्यसौ तालद्रुमारोहरणकर्तृवद्ध्रुवम् ।।८६४।।

जो मुमुक्षु योगपर सम्यग् आरोहण करता है उसे थोड़ा-सा भी अन्य कर्म युक्त नहीं है, अन्य कर्म करनेमें आसक्त मनवाला वह मुमुक्षु ताड़ वृक्षपर चढ़नेवालेके समान निश्चित गिरता है ।।८६४।।

योगारूढस्य सिद्धस्य कृतकृत्यस्य धीमतः ।
नास्त्येव हि बहिर्दृष्टिः का कथा तत्र कर्मणाम् ।
दृश्यानुविद्धः कथितः समाधिः सविकल्पकः ।।८६५।।

योगारूढ, सिद्ध, कृतकृत्य बुद्धिमानकी बाहर दृष्टि ही नहीं है, तो उसके विषयमें कर्मोंकी चर्चा ही क्या है ? इस प्रकार दृश्ययुक्त सविकल्प समाधि कही गयी है ।।८६५।।

शुद्धोऽहं बुद्धोऽहं प्रत्यग्रूपेण नित्यसिद्धोऽहम् ।
शान्तोऽहमनन्तोऽहं सततपरानन्दसिन्धुरेवाहम् ।।८६६।।

मैं शुद्ध, मैं बुद्ध, मैं प्रत्यग्रूपसे नित्य सिद्ध, मैं शान्त स्वरूप; मैं अनन्त, मैं निरन्तर परम आनन्दका सागर ही हूँ ।।८६६।।

आद्योऽहमनाद्योऽहं वाङ्मनसासाध्यवस्तुमात्रोऽहम् ।
निगमवचोवेद्योऽहमनवद्याखण्डबोधरूपोऽहम् ।।८६७।।
विदिताविदितान्योऽहं मायातत्कार्यलेशशून्योऽहम् ।
केवलदृगात्मकोऽहं संविन्मात्रः सकृद्विभातोऽहम् ।।८६८।।

मैं आद्य-सबसे पूर्व, मैं अनाद्य-आदिसे रहित, मैं वाणी और मनसे असाध्य वस्तुमात्र, मैं वेद वाक्यों द्वारा जानने योग्य और मैं निर्दोष अखण्ड ज्ञानरूप हूँ । मैं विदित और अविदितसे अन्य, मैं माया और उसके कार्यके लेशमात्र सम्बन्धसे रहित, मैं केवल द्रष्टा-रूप, ज्ञानमय और एकरूपसे भासनेवाला हूँ ।।८६७-८६८।।

अपरोऽहमनपरोऽहं बहिरन्तश्चापि पूर्ण एवाहम् ।
अजरोऽहमक्षरोऽहं नित्यानन्दोऽहमद्वितीयोऽहम् ।।८६९।।

मैं ही अपर-परभिन्न, अनपर-अपर भिन्न, मैं ही बाहर और अन्तर भी पूर्ण, मैं जरा रहित, मैं क्षय रहित, मैं नित्य आनन्दरूप और मैं ही अद्वितीय हूँ ॥८६९॥

प्रत्यगभिन्नमखण्डं सत्यज्ञानादिलक्षणं शुद्धम् ।
श्रुत्यवगम्यं तथ्यं ब्रह्मैवाहं परं ज्योतिः ॥८७०॥

मैं प्रत्यगभिन्न, अखण्ड, सत्य ज्ञानादिरूप, शुद्ध उपनिषद् द्वारा जानने योग्य (**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'** गीता १५।१५) यथार्थ, परम ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म ही हूँ ॥

एवं सन्मात्रगाहिन्या वृत्त्या तन्मात्रगाहकैः ।
शब्दैः समर्पितं वस्तु भावयेन्निश्चलो यतिः ॥८७१॥

इस प्रकार संन्यासी ब्रह्ममात्रको ग्रहण करनेवाली चित्तवृत्तिसे और ब्रह्ममात्रको ग्रहण करानेवाले शब्दोंके द्वारा समर्पित वस्तुका निश्चल भावसे चिन्तन करे ॥८७१॥

कामादिदृश्यप्रविलापपूर्वकं शुद्धोऽहमित्यादिकशब्दमिश्रः ।
दृश्येव निष्ठस्य य एष भावः शब्दानुविद्धः कथितः समाधिः ॥८७२॥

काम आदि दृश्योंका विलय पूर्वक मैं शुद्ध हूँ, इत्यादि शब्दोंसे युक्त दृश्यमें ही स्थित पुरुषका जो यह भाव है, वह शब्द युक्त सविकल्प समाधि कही गई है अर्थात् काम आदि दृश्य पदार्थोंका पहले लयकर ब्रह्मनिष्ठ हुए पुरुषकी 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसी शब्दयुक्त अवस्थाको शब्दयुक्त सविकल्प समाधि कहते हैं ॥८७२॥

॥ निर्विकल्प समाधि ॥

दृश्यस्यापि च साक्षित्वात्समुल्लेखनमात्मनि ।
निवर्तकमनोवस्था निर्विकल्प इतीर्यते ॥८७३॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि दृश्य पदार्थोंका भी संक्षिप्तरूपसे आत्मामें कथन अर्थात् सब दृश्य भी साक्षी आत्मरूप हैं और मन की निवृत्ति जनक अवस्था यह निर्विकल्प समाधि कही जाती है ॥८७३॥

सविकल्पसमाधिं यो दीर्घकालं निरन्तरम् ।
संस्कारपूर्वकं कुर्यान्निर्विकल्पोऽस्य सिध्यति ॥८७४॥

जो चिरकाल तक निरन्तर संस्कारोंके साथ सविकल्प समाधि करे, उसकी निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है ॥८७४॥

निर्विकल्पकसमाधिनिष्ठया तिष्ठतो भवति नित्यता ध्रुवम् ।
उद्भवाद्यपगतिर्निरर्गला नित्यनिश्चलनिरन्तनिर्वृतिः ॥८७५॥

निर्विकल्प समाधिमें तत्परतासे रहनेवाले को निश्चित नित्यता, जन्मादिका अभाव बाधारहित, नाशरहित, नित्य, निश्चल, असीम शान्ति प्राप्त होती है ॥८७५॥

विद्वानहमिदमिति वा किंचिद्बाह्याभ्यन्तरवेदनशून्यः ।
स्वानन्दामृतसिंधुनिमग्नस्तूष्णीमास्ते कश्चिदनन्यः ॥८७६॥

ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ कोई तत्त्वज्ञानी 'मैं विद्वान् हूँ, अथवा यह जगत् है' इस प्रकार किञ्चिदपि बाह्य और अन्तर ज्ञान शून्य, अपने आनन्दरूप अमृत सागरमें निमग्न हो मौन रहता है ॥८७६॥

निर्विकल्पं परं ब्रह्म यत्तस्मिन्नेव निष्ठिताः ।
एते धन्या एव मुक्ता जीवन्तोऽपि बहिर्दृशाम् ॥८७७॥

जो निर्विकल्प परब्रह्म है उसमें ही निष्ठा रखनेवाले वे धन्य पुरुष बाह्यदृष्टिवालों में जीवित रहते भी मुक्त ही हैं ॥८७७॥

॥ बाहरकी समाधिका प्रकार ॥

यथा समाधित्रितयं यत्नेन क्रियते हृदि ।
तथैव बाह्यदेशेऽपि कार्यं द्वैतनिवृत्तये ॥८७८॥

जैसे अपने हृदय में यत्न पूर्वक तीन समाधि—दृश्य युक्त और शब्दयुक्त इस प्रकार की दो सविकल्प समाधि और एक निर्विकल्प समाधि की जाती हैं, उसीप्रकार द्वैत-निवृत्तिके लिए हृदयसे बाहर देशमें भी समाधिका अनुष्ठान करना चाहिए ॥८७८॥

तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि निशामय समासतः ।
अधिष्ठानं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥८७९॥

उसी समाधिके प्रकारको संक्षेपसे कहूँगा, सुन ! सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म ही सबका अधिष्ठान है ॥८७९॥

तत्राध्यस्तमिदं भाति नामरूपात्मकं जगत् ।
सत्त्वं चित्त्वं तथानन्दरूपं यद्ब्रह्मणस्त्रयम् ॥८८०॥
अध्यस्तजगतो रूपं नामरूपमिदं द्वयम् ।
एतानि सच्चिदानन्दनामरूपाणि पञ्च च ॥८८१॥
एकीकृत्योच्यते मूर्खैरिदं विश्वमिति भ्रमात् ।
शैत्यं श्वेतं रसं द्राव्यं तरङ्ग इति नाम च ॥८८२॥
एकीकृत्य तरङ्गोऽयमिति निर्दिश्यते यथा ।
आरोपिते नामरूपे उपेक्ष्य ब्रह्मणः सतः ॥८८३॥
स्वरूपमात्रग्रहणं समाधिर्बाह्य आदिमः ।
सच्चिदानन्दरूपस्य सकाशाद्ब्रह्मणो यतिः ॥८८४॥

भिन्न-भिन्न नाम रूपात्मक यह जगत् उस ब्रह्ममें अध्यस्त है, सत्स्वरूप, चिद्रूप और उसी प्रकार आनन्दरूप ये ब्रह्मके तीन रूप हैं। आरोपित जगत्के यह नाम और रूप यह दो रूप हैं। सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप इन पाँचोंको भ्रमसे एक कर यह विश्व है, ऐसा मूर्ख कहते हैं। शीतलता, सफेद, (शुक्लवर्ण) रस-द्रव्य, एवं तरङ्ग यह नाम, इनको भी एक कर यह तरङ्ग है जैसे यह निर्देश किया जाता है,

वस्तुतः यह सब जल है। उक्त नाम और रूप जल में कल्पित हैं। वैसे ही आरोपित नाम और रूपकी उपेक्षाकर सद् ब्रह्मके स्वरूपमात्रका ग्रहण यह पहली बाह्य-समाधि है ॥८८०-८८४॥

नामरूपे पृथक्कृत्वा ब्रह्मण्येव विलापयन् ।
अधिष्ठानं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
यत्तदेवाहमित्येव निश्चतात्मा भवेद्ध्रुवम् ॥८८५॥

यदि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके प्रकाशसे नाम और रूपको पृथक कर ब्रह्ममें ही विलय करता हुआ नाम-रूपात्मक जगत्का अधिष्ठान जो परब्रह्म सच्चिदानन्दरूप अद्वितीय है वही मैं हूँ, इस प्रकार अटल-दृढ चित्तवाला हो ॥८८५॥

इयं भूर्न सन्नापि तोयं न तेजो न वायुर्न खं नापि तत्कार्यजातम् ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८६॥

यह पृथिवी ब्रह्म नहीं है, जल भी नहीं है, अग्नि नहीं है, न वायु, न आकाश और न उन भूतोंका कार्य समुदाय ब्रह्म है। किन्तु जो इन सबका अधिष्ठानरूप विशुद्ध सत्स्वरूप एक परब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥८८६॥

न शब्दो न रूपं न च स्पर्शको वा तथा नो रसो नापि गन्धो न चान्यः ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८७॥

न शब्द, न रूप अथवा न स्पर्श, तथा न रस, न गन्ध भी और न अन्य ब्रह्म है, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' (क० १।३।१५) ऐसी श्रुति है, किन्तु जो इन सबका अधिष्ठानरूप विशुद्ध सद्रूप, एक परब्रह्म है, वही मैं हुँ ॥८८७॥

न सद्द्रव्यजातं गुणा न क्रिया वा न जातिर्विशेषो न चान्यः कदापि ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८८॥

पृथिवी आदि द्रव्य समुदाय (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, और मन यह नौ द्रव्य) अथवा शब्द[1], स्पर्श, रूप आदि चौबीस गुण, उत्क्षेपण[2] आदि पाँच क्रियाएँ भी ब्रह्म नहीं है, मनुष्यत्व, पशुत्व, आदि जाति, परमाणुओं और नित्य द्रव्योंके व्यावर्तक विशेष भी नहीं है, इससे भिन्न अन्य कभी भी ब्रह्म नहीं है, किन्तु इन सबका जो अधिष्ठान भूत विशुद्ध सद्रूप एक परब्रह्म है वही मैं हूँ ॥८८८॥

---

१. सत्त्व, रज, तम तीन गुण अथवा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वाऽपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, संस्कार ये चौबीस गुण हैं।

२. उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म हैं, ये कणाद मतानुसार हैं।

न देहो न चाक्षाणि न प्राणवायुर्मनो नापि बुद्धिर्न चित्तं ह्यहंधीः ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८८९॥

न देह, न इन्द्रिय समुदाय, न प्राणवायु, न मन, न बुद्धि, न चित्त और न अहं-बुद्धि-अहंकार ब्रह्म है किन्तु जो इन सबका अधिष्ठानभूत विशुद्ध सद्रूप एक परब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥८८९॥

न देशो न कालो न दिग्वापि सत्स्यान्न वस्त्वन्तरं स्थूलसूक्ष्मादिरूपम् ।
यदेषामधिष्ठानभूतं विशुद्धं सदेकं परं सत्तदेवाहमस्मि ॥८९०॥

न देश, न काल, न दिशाएँ, न स्थूल सूक्ष्मादि रूप अन्य वस्तु ब्रह्म है, किन्तु जो इन सबका अधिष्ठानभूत विशुद्ध सद्रूप एक परब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥८९०॥

एतद्दृश्यं नामरूपात्मकं योऽधिष्ठानं तद्ब्रह्म सत्यं सदेति ।
गच्छंस्तिष्ठन्वा शयानोऽपि नित्यं कुर्याद्विद्वान्बाह्यदृश्यानुविद्धम् ॥८९१॥

नाम रूपात्मक इस दृश्य जगत्का अधिष्ठान ब्रह्म है वह सदा सत्य है, ऐसा जानने वाला विद्वान् चलता हुआ, बैठा हुआ, अथवा सोता हुआ भी नित्य बाह्य 'दृश्यानुविद्ध' दृश्यसे युक्त समाधि करे ॥८९१॥

अध्यस्तनामरूपादिप्रविलापेन निर्मलम् ।
अद्वैतं परमानन्दं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९२॥

अध्यस्त नामरूप आदिको विलीन कर निर्मल, अद्वितीय परमानन्द स्वरूपब्रह्म मैं हूँ, यति ऐसी भावना करे ॥८९२॥

निर्विकारं निराकारं निरञ्जनमनामयम् ।
आद्यन्तरहितं पूर्णं ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥८९३॥

मैं निर्विकार, निराकार, निर्लेप, रोग रहित, आदि अन्तरहित, पूर्ण ब्रह्म हूँ । इसमें सन्देह नहीं है ॥८९३॥

निष्कलङ्कं निरातङ्कं त्रिविधच्छेदवर्जितम् ।
आनन्दमक्षरं मुक्तं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९४॥

निष्कल, निर्भय, तीन प्रकारके छेद—देश, काल और वस्तु परिच्छेद रहित, आनन्द-रूप, अक्षर, मुक्त ब्रह्म ही मैं हूँ, यति ऐसी भावना-चिन्तन करे ॥८९४॥

निर्विशेषं निराभासं नित्यमुक्तमविक्रियम् ।
प्रज्ञानैकरसं सत्यं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९५॥

जाति आदि विशेष शून्य, आभास रहित, नित्य मुक्त, अविक्रिय, ज्ञानरूप एकरस सत्य ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसी भावना करे ॥८९५॥

शुद्धं बुद्धं तत्त्वसिद्धं परं प्रत्यगखण्डितम् ।
स्वप्रकाशं पराकाशं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९६॥

शुद्ध, बोधरूप, तत्त्वरूपसे सिद्ध, श्रेष्ठ, प्रत्यग्रूप, अखण्ड, स्वयं प्रकाश, परमाकाश ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसी भावना करे ॥८९६॥

सुसूक्ष्ममस्तितामात्रं निर्विकल्पं महत्तमम् ।
केवलं परमाद्वैतं ब्रह्मैवास्मीति भावयेत् ॥८९७॥

परम सूक्ष्म, सत्तामात्र, निर्विकल्प, परम महान्, केवल, परम अद्वैतरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसी भावना करे ॥८९७॥

इत्येवं निर्विकारादिशब्दमात्रसमर्पितम् ।
ध्यायतः केवलं वस्तु लक्ष्ये चित्तं प्रतिष्ठति ॥८९८॥

इसप्रकार 'निर्विकार' आदि शब्द मात्रसे समर्पित केवल सद्वस्तुका ध्यान करनेवालेका चित्त लक्ष्य ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होता है ॥८९८॥

ब्रह्मानन्दरसावेशादेकीभूय तदात्मना ।
वृत्तेर्या निश्चलावस्था स समाधिरकल्पकः ॥८९९॥

ब्रह्मानन्दरूप रसके आस्वादनसे उस ब्रह्मरूपसे एकीभूत हुई जो बुद्धि वृत्तिकी निश्चलावस्था है, वह निर्विकल्प समाधि है ॥८९९॥

उत्थाने वाप्यनुत्थानेऽप्यप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
समाधिषट्कं कुर्वीत सर्वदा प्रयतो यतिः ॥९००॥

सावधान जितेन्द्रिय यति उत्थान-जाग्रत अथवा अनुत्थानमें भी सर्वदा प्रयत्न करता हुआ छः प्रकार की समाधिका अनुष्ठान करे ॥९००॥

विपरीतार्थधीर्यावन्न निःशेषं निवर्तते ।
स्वरूपस्फुरणं यावन्न प्रसिध्यत्यनिर्गलम् ।
तावत्समाधिषट्केन नयेत्कालं निरन्तरम् ॥९०१॥

जबतक देह आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप विपरीत बुद्धि पूर्णरूपसे निवृत्त न हो और जबतक स्वरूपका स्फुरण बाधारहित सिद्ध न हो, तबतक छः प्रकारकी समाधिसे निरन्तर समयको बितावे ॥९०१॥

न प्रमादोऽत्र कर्तव्यो विदुषा मोक्षमिच्छता ।
प्रमादे जृम्भते माया सूर्यापाये तमो यथा ॥९०२॥

मोक्ष चाहनेवाले विद्वान्‌को समाधिके विषयमें प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैसे सूर्य के अस्त होने पर अन्धकार फैलता है; वैसे प्रमाद होनेपर अज्ञान अपने अहं, मम द्वारा फैलता है ॥९०२॥

स्वानुभूतिं परित्यज्य न तिष्ठन्ति क्षणं बुधाः ।
स्वानुभूतौ प्रमादो यः स मृत्युर्न यमः सताम् ॥९०३॥

मुमुक्षु विद्वान् लोग आत्माके अनुभवको छोड़कर क्षणभर भी स्थित नहीं रहते, क्योंकि आत्मानुभूतिमें जो प्रमाद है वही सत्पुरुषोंकी मृत्यु है, यम मृत्यु नहीं है ॥९०३॥

अस्मिन्समाधौ कुरुते प्रयासं यस्तस्य नैवास्ति पुनर्विकल्पः ।
सर्वात्माभावोऽप्यमुनैव सिध्येत्सर्वात्मभावः खलु केवलत्वम् ॥९०४॥

जो इस समाधिमें प्रयास करता है, उसको पुनः विरोधी अवस्था कदापि नहीं होती । सर्वात्मभाव (**आत्मैवेदं सर्वम्**) भी इस समाधिसे ही सिद्ध होता है, निश्चय सर्वात्मभाव ही कैवल्य है ॥९०४॥

सर्वात्मभावो विदुषो ब्रह्मविद्याफलं विदुः ।
जीवन्मुक्तस्य तस्यैव स्वानन्दानुभवः फलम् ॥९०५॥

विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि विद्वान्का सर्वात्मभाव ब्रह्मविद्याका फल है, और उसी जीवनमुक्त यतिको स्वानन्द अनुभव फल है ॥९०५॥

योऽहं ममेत्याद्यसदात्मगाहको ग्रन्थिर्लयं याति स वासनामयः ।
समाधिना नश्यति कर्मबन्धो ब्रह्मात्मबोधोऽप्रतिबन्ध इष्यते ॥९०६॥

जो 'मैं मेरा' इत्यादि अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धिका ग्राहक वासनामय ग्रन्थि (चिद्जड़ ग्रन्थि) है वह समाधिसे लय-नष्ट हो जाती है और कर्मका बन्धन भी नष्ट हो जाता है, तब प्रतिबन्ध रहित ब्रह्मात्मज्ञान इच्छित होता है ॥९०६॥

एष निष्कण्टकः पन्था मुक्तेर्ब्रह्मात्मना स्थितेः ।
शुद्धात्मनां मुमुक्षूणां यत्सदेकत्वदर्शनम् ॥९०७॥

निर्मल चित्तवाले मुमुक्षुओंका जो सद्रूप ब्रह्मात्माका अभेद दर्शन है, यह ब्रह्मरूपसे स्थितिरूप मुक्तिका बाधा रहित मार्ग है ॥९०७॥

तस्मात्त्वं चाप्यप्रमत्तः समाधीन्कृत्वा ग्रन्थिं साधु निर्दह्य युक्तः ।
नित्यं ब्रह्मानन्दपीयूषसिन्धौ मज्जन्क्रीडन्मोदमानो रमस्व ॥९०८॥

इसलिए तू भी सावधान होकर छः प्रकारकी समाधियोंका अनुष्ठान कर भली प्रकारसे चिज्जड़ ग्रन्थिको दग्धकर योग युक्त हो ब्रह्मानन्दरूप अमृतसागरमें नित्य गोता लगाता हुआ क्रीड़ा करता हुआ आनन्दित होकर रमण कर ॥९०८॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥(मुण्डक २।२।८)

॥ योगः ॥

निर्विकल्पसमाधिर्यो वृत्तिनैश्चल्यलक्षणा ।
तमेव योग इत्याहुर्योगशास्त्रार्थकोविदाः ॥९०९॥

चित्तवृत्तिकी स्थिरतारूप जो निर्विकल्प समाधि है, योग शास्त्रके अर्थको जाननेवाले पण्डित उसीको योग इस नामसे कहते हैं ॥९०९॥

अष्टावङ्गानि योगस्य यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारश्चापि च धारणा ॥९१०॥

ध्यानं समाधिरित्येव निगदन्ति मनीषिणः ।
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ॥९११॥

यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।
सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ॥९१२॥

नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ।
सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ॥९१३॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार और धारणा, ध्यान एवं समाधि भी इस प्रकार इन्हे विद्वान् लोग योगके आठ अङ्ग कहते हैं। 'सब ब्रह्म है' इस विज्ञान से इन्द्रिय समुदायका संयम- यह यम है इस नामसे कहा गया है, यह बार बार अभ्यास करने योग्य है। ब्रह्म भिन्न विजातीय वृत्तिका निरोध और 'सब ब्रह्म है' इस प्रकार की सजातीय-समान प्रकारकी वृत्तिकी परम्परा यह नियम कहा जाता है, विद्वान् लोग नियमके अनुष्ठानसे परमानन्द अनुभव करते हैं। जिसमें सुख पूर्वक हो निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन हो ॥९१०-९१३॥

आसनं तद्विजानीयादितरत्सुखनाशनम् ।
चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ॥९१४॥

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ॥९१५॥

ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ॥९१६॥

चित्त आदि सब पदार्थोंमें ब्रह्मरूपसे भावनाके कारण ही जो अन्य विषय सुखका नाश है उसीको आसन जानो ॥ चित्तकी सब वृत्तियोंका जो निरोध है वह प्राणायाम कहा जाता है 'नेति-नेति' इस प्रकार प्रपञ्चका निषेध अथवा ब्रह्ममें लय रेचक नामक वायु है ॥ 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी जो चित्तवृत्ति वह पूरक वायु कहा जाता है, तदनन्तर ब्रह्माकार वृत्तिकी निश्चलता प्राण संयमरूप कुम्भक है ॥९१४-९१६॥

अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम् ।
विषयेष्वात्मतां त्यक्त्वा मनसश्चिति मज्जनम् ॥९१७॥

प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ।
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ॥९१८॥
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ।
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ॥९१९॥
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ।
निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ॥९२०॥

यह कुम्भक भी ज्ञानी एवं अज्ञानियोंके प्राणवायुका निरोधक है, शब्द, स्पर्श आदि विषयोंमें आत्मबुद्धिका त्याग कर जो मनका ब्रह्ममें स्थापन है वह प्रत्यहार समझना चाहिए, मुमुक्षुको उसका अभ्यास करना चाहिए। जहाँ जहाँ मन जाता है, वहाँ वहाँ ब्रह्मके दर्शनसे मनका स्थापन ही उत्तम धारणा मानी गई है। **'यत्र तत्र मनो याति तत्र तत्र ब्रह्मदर्शनम्'** 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी उत्तमवृत्तिके द्वारा परमानन्द दायक निरालम्ब रूपसे मनकी स्थितिको ध्यान शब्दसे कहा गया है ॥९१७-९२०॥

वृत्तिविस्मरणं सम्यक्समाधिर्ध्यानसंज्ञिकः ।
समाधौ क्रियमाणे तु विघ्ना ह्यायान्ति वै बलात् ॥९२१॥

विकार रहित ब्रह्माकार वृत्तिके द्वारा विषयाकार वृत्तिके भली प्रकार विस्मरणको ध्यान नामक समाधि कहा जाता है। परन्तु समाधि किये जानेपर निश्चय ही विघ्न बलात् आते हैं ॥९२१॥

अनुसंधानराहित्यमालस्य भोगलालसम् ।
भयं तमश्च विक्षेपस्तेजःस्पन्दश्च शून्यता ॥९२२॥
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं तद्ब्रह्मविज्जनैः ।
विघ्नानेतान्परित्यक्त्वा प्रमादरहितो वशी ।
समाधिनिष्ठया ब्रह्म साक्षाद्भवितुमर्हसि ॥९२३॥

ब्रह्म विषयक चिन्तन न करना, आलस्य, भोगवासना, भय, अज्ञान, मनकी चञ्चलता, तापसे पसीना आना, शून्य जैसी स्थिति, इस प्रकार जो बहुत विघ्न हैं, ब्रह्मवित्पुरुषों द्वारा उनका त्याग करना चाहिए। तू इन सब विघ्नोंका परित्याग कर प्रमाद रहित एवं जितेन्द्रिय होकर ध्याननिष्ठाद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकता है ॥९२२-९२३॥

॥ शिष्यका अनुभव ॥

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्परमवगम्य स्वतत्त्वमात्मयुक्त्या ।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ॥९२४॥

इस प्रकार शिष्य श्रुतिप्रमाण और गुरुके उपदेशसे अपनी बुद्धिके द्वारा परम आत्मतत्त्वको जानकर शान्त इन्द्रिय और समाहित चित्त होकर कदाचित् अचलाकृति होता हुआ आत्मामें स्थित हो गया ॥९२४॥

बहुकालं समाधाय स्वस्वरूपे तु मानसम्।
उत्थाय परमानन्दाद्गुरुमेत्य पुनर्मुदा ॥९२५॥
प्रणामपूर्वकं धीमान्सगद्गदमुवाच ह।
नमो नमस्ते गुरवे नित्यानन्दस्वरूपिणे ॥९२६॥

बुद्धिमान् शिष्य चिरकालतक अपने स्वरूपमें मनको समाहित कर परमानन्दसे उठकर हर्षपूर्वक पुनः गुरुके पास जाकर प्रणाम पूर्वक गद्गद वाणीसे बोला—नित्यानन्द-स्वरूप गुरु आपको वार वार नमस्कार है ॥९२५-९२६॥

मुक्तसङ्गाय शान्ताय त्यक्ताहंताय ते नमः।
दयाधाम्ने नमो भूम्ने महिम्नः पारमस्य ते।
नैवास्ति यत्कटाक्षेण ब्रह्मैवाभवमद्वयम् ॥९२७॥

सङ्ग रहित, शान्त, अहंकार शून्य आपको प्रणाम है। दयाके धाम ब्रह्मस्वरूप आपको प्रणाम है। जिस गुरुदेवके कृपाकटाक्षसे अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हुआ हूँ, आपकी इस महिमाका पार नहीं है ॥९२७॥

किं करोमि क गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥९२८॥

मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? क्या ग्रहण करूँ और क्या त्याग करूँ? क्योंकि जैसे महाप्रलयकालमें महान् जलसे यह विश्व व्याप्त हो जाता है, अथवा महासंकल्परूपी जलसे पूर्ण हो जाता है, वैसे ही यह विश्व मुझसे पूर्ण है ॥९२८॥

मयि सुखबोधपयोधौ महति ब्रह्माण्डबुद्बुदसहस्रम्।
मायामयेन मरुता भूत्वा भूत्वा पुनस्तिरोधत्ते ॥९२९॥

महान् आनन्द अनुभवके सागररूप मुझ आत्मामें ब्रह्माण्डरूप सहस्रों बुद्बुदे माया-मय वायुके द्वारा बार बार उत्पन्न होकर पुनः तिरोहित हो जाते हैं ॥९२९॥

नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माहं त्वदनुग्रहात्।
पूर्णोऽहमनवद्योऽहं केवलोऽहं च सद्गुरो ॥९३०॥

हे सद्गुरो! आपके अनुग्रहसे मैं नित्यानन्द स्वरूप हूँ, आत्मा हूँ, पूर्ण हूँ, दोष रहित-शुद्ध हूँ और केवल अद्वितीय हूँ ॥९३०॥

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः।
आनन्दघन एवाहमसङ्गोऽहं सदाशिवः ॥९३१॥

मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, निर्विकार हूँ, अक्रिय हूँ, आनन्दघन ही हूँ, मैं असङ्ग एवं सदाशिवरूप हूँ ॥९३१॥

त्वत्कटाक्षवरचान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजः श्रमः।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥९३२॥

हे गुरुदेव ! आपके कृपाकटाक्षरूप श्रेष्ठ चन्द्रमाकी चाँदनीके पड़नेसे संसार तापसे उत्पन्न सब श्रम जिसका दूर हो गया है, ऐसा मैं क्षण भरमें अखण्ड आनन्द वैभव एवं अक्षय आत्मपदको प्राप्त हो गया हूँ ।।९३२।।

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा दुष्ठु सुष्ठु वा ।
न स्पृशत्येव यत्किंचित्पुरुषं तद्विलक्षणम् ।।९३३।।

छायाके द्वारा स्पर्श हुआ उष्ण या शीतल, बुरा या भला जो कुछ भी, इन उष्ण आदिसे विलक्षण पुरुषको स्पर्श नहीं कर सकता ।।९३३।।

न साक्षिणं साक्ष्यधर्मा न स्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ।।९३४।।

जैसे घरके धर्म प्रदीपको स्पर्श नहीं करते हैं, वैसे ही जो साक्ष्य-दृश्यके धर्म हैं, वे निर्विकार, उदासीन, विलक्षण साक्षीको स्पर्श नहीं करते हैं ।।९३४।।

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो वह्नेर्यथा वाऽयसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथाऽऽरोपितवस्तुसङ्गस्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ।।९३५।।

जैसे सूर्यका प्राणियोंके कर्मोंमें साक्षिभाव है, अथवा जैसे अग्निका लोहेमें दाहकत्व है, जैसे रज्जुका अपनेमें आरोपित वस्तुसे सम्बन्ध है, वैसे ही कूटस्थ, चिदात्मरूप मेरा भी संसारसे सम्बन्ध है ।।९३५।।

इत्युक्त्वा स गुरुं स्तुत्वा प्रश्रयेण कृतानतिः ।
मुमुक्षोरुपकाराय प्रष्टव्यांशमपृच्छत ।।९३६।।

ऐसा कहकर गुरुकी स्तुति कर विनयके साथ नमस्कार करनेवाले उस शिष्यने मुमुक्षुके उपकारके लिए प्रष्टव्य अंशको पूछा ।।९३६।।

जीवन्मुक्तस्य भगवन्ननुभूतेश्च लक्षणम् ।
विदेहमुक्तस्य च मे कृपया ब्रूहि तत्त्वतः ।।९३७।।

हे भगवन् ! जीवनमुक्तका अनुभूतिका और विदेहमुक्तका लक्षण यथार्थरूपसे कृपाकर मुझसे कहिये ।।९३७।।

।। श्रीगुरुः–ज्ञानभूमिकाके लक्षण ।।

वक्ष्ये तुभ्यं ज्ञानभूमिकाया लक्षणमादितः ।
ज्ञाते यस्मिंस्त्वया सर्वं ज्ञातं स्यात्पृष्टमद्य यत् ।।९३८।।

मैं तुझसे ज्ञानभूमिकाका लक्षण आरम्भसे कहूँगा । जिसके जान लेनेपर जो तुमने आज पूछा है सब ज्ञात हो जायगा ।।९३८।।

ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ।।९३९।।

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥१४०॥

शुभेच्छा प्रथम ज्ञानभूमिका है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसी कही गई है। चौथी सत्त्वापत्ति है, उसके अनन्तर पाँचवी असंसक्ति नामवाली है, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा कही गई है ॥१३९-१४०॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छा चोच्यते बुधैः ॥१४१॥

शास्त्रज्ञाता सज्जन पुरुष मुझपर दृष्टि रखते हैं, तो भी क्या मैं अभीतक मूर्ख ही विद्यमान हूँ, इस प्रकार वैराग्यपूर्वक जो इच्छा हो उसे विद्वान् शुभेच्छा कहते हैं ॥१४१॥

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥१४२॥

वेदादि शास्त्रोंके ज्ञाता सज्जनोंका संपर्क एवं वैराग्य, अभ्यासपूर्वक जो सदाचारमें प्रवृत्ति वह विचारणा कही जाती है ॥१४२॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वरक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥१४३॥

जिस अवस्थामें विचारणा और शुभेच्छाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें अनुराग क्षीणताको प्राप्त होता है वह तनुमानसी कही जाती है ॥१४३॥

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥१४४॥

पूर्वोक्त तीन भूमिकाओंके अभ्याससे चित्तके पदार्थोंमें वैराग्यके कारणसे शुद्ध सत्त्व-स्वरूप आत्मामें स्थित होनेपर सत्त्वापत्ति कही जाती है ॥१४४॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥१४५॥

ऊपर कही गई चार भूमिकाओंके अभ्याससे जो असंसर्ग फलवाली अर्थात् किसीके साथ संसर्गकी इच्छा न हो और सत्त्वगुणका चमत्कार रूढ हो जाता है। ऐसी असंसक्ति नामवाली कही गई है ॥१४५॥

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥१४६॥
परप्रयुक्तेन चिरप्रयत्नेनावबोधनम् ।
पदार्थाभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥१४७॥

पूर्वोक्त पाँच भूमिकाओंके अभ्याससे अपने आत्मस्वरूपमें अत्यन्त रमण होनेके

कारण आभ्यन्तर तथा बाह्य पदार्थोंके ज्ञानाभावके कारण दूसरेके द्वारा बहुत कालतक प्रयुक्त प्रयत्नसे जो ज्ञान होता है, वह पदार्थाभावना नामक छठी भूमिका है ॥९४६-९४७॥

षड्भूमिकाचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥९४८॥

छः भूमिकाओंका चिरकालतक अभ्यास करनेसे भेदकी प्रतीति न होनेके कारण जो स्वभावसे एकरूप निष्ठा है, वह तुर्यगा गति समझनी चाहिए ॥९४८॥

॥ जाग्रत्में तीन अवस्थाएँ ॥

इदं ममेति सर्वेषु दृश्यभावेष्वभावना ।
जाग्रज्जाग्रदिति प्राहुर्महान्तो ब्रह्मवित्तमाः ॥९४९॥

सब दृश्य पदार्थोंमें 'यह मेरा है' इस प्रकारकी जो अभावना वह जाग्रत्-जाग्रत् है, इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महान् पुरुष कहते हैं ॥९४९॥

विदित्वा सच्चिदानन्दे मयि दृश्यपरम्पराम् ।
नामरूपपरित्यागो जाग्रत्स्वप्नः समीर्यते ॥९५०॥

सच्चिदानन्दरूप मुझमें दृश्य परम्परा (समूह) को कल्पित जानकर जो नाम-रूपका परित्याग वह जाग्रत्स्वप्न कहा जाता है ॥९५०॥

परिपूर्णचिदाकाशे मयि बोधात्मतां विना ।
न किंचिदन्यदस्तीति जाग्रत्सुप्तिः समीर्यते ॥९५१॥

परिपूर्ण चैतन्याकाशरूप मुझमें ज्ञानस्वरूपके विना और कुछ नहीं है, यह जाग्रत्सुषुप्ति कही जाती है ॥९५१॥

॥ स्वप्नमें तीन अवस्थाएँ ॥

मूलाज्ञानविनाशेन कारणाभासचेष्टितैः ।
बन्धो न मेऽतिस्वल्पोऽपि स्वप्नजाग्रदितीर्यते ॥९५२॥

मूल अज्ञानके नाश होनेपर कारणाभासकी चेष्टाओंसे मेरा थोड़े मात्र भी बन्धन नहीं है, यह स्वप्न जाग्रत् कहा जाता है ॥९५२॥

कारणाज्ञाननाशाद्यद्द्रष्टृदर्शनदृश्यता ।
न कार्यमस्ति तज्ज्ञानं स्वप्नस्वप्नः समीर्यते ॥९५३॥

कारणरूप अविद्याके नाश होनेसे जो द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप कार्य नहीं है, ऐसा वह ज्ञान स्वप्नस्वप्न कहा जाता है ॥९५३॥

अतिसूक्ष्मविमर्शेन स्वधीवृत्तिरचञ्चला ।
विलीयते यदा बोधे स्वप्नसुप्तिरितीर्यते ॥९५४॥

अतिसूक्ष्म विचारके द्वारा जब अपनी अचञ्चल बुद्धिकी वृत्ति ज्ञानमें विलीन हो

जाती है, तब स्वप्नसुषुप्ति कही जाती है ॥९५४॥

॥ सुषुप्तिमें तीन अवस्थाएँ ॥

चिन्मयाकारमतयो धीवृत्तिप्रसरैर्गतः ।
आनन्दानुभवो विद्वन् सुप्तिजाग्रदितीर्यते ॥९५५॥

हे विद्वन् ! जिस अवस्थामें चित्तकी वृत्तियाँ चैतन्यमय आकारको प्राप्त हैं, बुद्धि वृत्तियोंके प्रसारसे आनन्द अनुभव प्राप्त है, वह सुषुप्ति जाग्रत् कही जाती है ॥९५५॥

वृत्तौ चिरानुभूतान्तरानन्दानुभवस्थितौ ।
समात्मतां यो यात्येष सुप्तिस्वप्न इतीर्यते ॥९५६॥

चिरकाल पर्यन्त अनुभूत आन्तर आनन्दके अनुभवसे स्थित वृत्तिमें जो एकात्मताको प्राप्त होता है, यह सुषुप्तिस्वप्न कहा जाता है ॥९५६॥

दृश्यधीवृत्तिरेतस्य केवलीभावभावना ।
परं बोधैकतावाप्तिः सुप्तिसुप्तिरितीर्यते ॥९५७॥

इस पुरुषकी दृश्यविषय बुद्धिवृत्ति आत्माकी विशुद्धताका चिन्तन कर केवल परम ज्ञानके साथ अभिन्न हो जाती है, ऐसी स्थितिको सुषुप्ति सुषुप्ति कहा जाता है ॥९५७॥

॥ तुर्यावस्था ॥

परब्रह्मवदाभाति निर्विकारैकरूपिणी ।
सर्वावस्थासु धारैका तुर्याख्या परिकीर्तिता ॥९५८॥

सब अवस्थाओंमें परब्रह्मके समान निर्विकाररूप एक ज्ञान धारा प्रतीत होती है, वह तुर्याख्या कही गई है ॥९५८॥

इत्यवस्थासमुल्लासं विमृशन्मुच्यते सुखी ।
शुभेच्छादित्रयं भूमिभेदाभेदयुतं स्मृतम् ॥९५९॥

इस प्रकार पूर्वोक्त भूमिकाओंके विकास-कार्यका विचारकर योगी सुखी होकर मुक्त हो जाता है। शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसी ये तीन भूमिकाएँ भेद और अभेदसे युक्त स्मरण की गई हैं ॥९५९॥

यथावद्भेदबुद्ध्येदं जाग्रज्जाग्रदितीर्यते ।
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ॥९६०॥
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिसुयोगतः ।
पञ्चमीं भूमिमारुह्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ॥९६१॥
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठेदद्वैतमात्रके ।
अन्तर्मुखतया नित्यं षष्ठीं भूमिमुपाश्रितः ॥९६२॥

परिश्रान्ततया गाढनिद्रालुरिव लक्ष्यते।
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूम्यां सम्यग्विवासनः ॥९६३॥
तुर्यावस्थां सप्तभूमिं क्रमात्प्राप्नोति योगिराट्।

भेदबुद्धिसे यथावत् ग्रहण किये जानेपर ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत् जाग्रत् कही जाती हैं। अद्वितीय ब्रह्ममें चित्तकी स्थिरता आजानेपर और द्वैतके शमन-शान्त हो जानेपर चतुर्थ भूमिका-सत्त्वापत्तिके योगसे योगी पुरुष लोकको स्वप्नके समान मिथ्या देखते हैं। सुषुप्ति अवस्था नामकी पाँचवीं भूमिकामें आरूढ होकर योगी पाँच भूत आदि सब विशेष अंशोंसे शान्त होकर केवल अद्वैतमात्रमें स्थित हो नित्य चित्तके अन्तर्मुख होनेके कारण छठी भूमिकाका आश्रय लेनेवाला योगी सब विषयों से निवृत्त होनेके कारण अत्यन्त शान्तरूपसे गाढ निद्रामें सोयेके समान प्रतीत होता है। इस छठी भूमिकाका भली प्रकार अभ्यास करता हुआ वासनाशून्य होकर योगीराज क्रमसे तुर्यानामक सातवीं भूमिकाको प्राप्त होता है ॥९६०-९६३॥

॥ जीवन्मुक्त-विदेहमुक्त ॥

विदेहमुक्तिरेवात्र तुर्यातीतदशोच्यते ॥९६४॥
यत्र नासन्न सच्चापि नाहं नाप्यनहंकृतिः।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥९६५॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥९६६॥
यथास्थितमिदं सर्वं व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९६७॥

यहाँ विदेहमुक्ति ही तुर्यातीत दशा कही जाती है। जिस अवस्थामें न असत् है न सत् है, न मैं और न अहंकार है। केवल अद्वितीय ब्रह्ममें क्षीणमनन होकर अतिनिर्भय रहता है। आकाशमें खाली घटके समान अन्तःशून्य और बहिःशून्य है। समुद्रमें पड़े घटके समान अन्दर पूर्ण और बाहर पूर्ण है। जैसे स्थित है वैसे सब व्यवहार करनेवाले की दृष्टिमें यह सब अस्त हो गया है, केवल आकाश सम स्थित है वह जीवनमुक्त कहा जाता है ॥९६४-९६७॥

नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखे मनःप्रभा।
यथाप्राप्तस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९६८॥
यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९६९॥

जिसके मनकी प्रभा सुखमें उदय नहीं होती और दुःखमें अस्त नहीं होती, जैसे प्राप्त हो वैसी स्थिति होती है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। सुषुप्तिमें स्थित हुआ भी

जो जागता है, जिसकी जाग्रदवस्था नहीं है, जिसका तत्त्वज्ञान वासनाशून्य है; वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥९६८-९६९॥

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७०॥

राग, द्वेष, भय आदिके अनुरूप आचरण करता भी जो भीतर व्योमके समान अत्यन्त निर्मल है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥९७०॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७१॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७२॥

करते हुए अथवा अकरते हुए भी जिसको अहंकृति भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ पर प्रयोजनोंके समान जो समस्त विषय जालोंमें व्यवहार करता भी शीतल वह पूर्णात्मा है वह जीवमुक्त कहा जाता है ॥

द्वैतवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने ।
अक्षुब्धचित्तविश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७३॥

द्वैत रहित चैतन्यमात्र परम पवित्र पदमें जो क्षोभरहित विश्रान्त चित्तवाला है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥९७३॥

इदं जगदयं सोऽयं दृश्यजातमवास्तवम् ।
यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७४॥

यह जगत्, यह, वह, यह मिथ्या दृश्य समुदाय जिसके चित्तमें स्फुरित नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥९७४॥

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः ।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७५॥

मैं चैतन्यस्वरूप, मैं परमात्मा, मैं परात्पर निर्गुण ब्रह्म हूँ, इस प्रकार जो केवल आत्मरूपसे स्थित हो वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥९७५॥

देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम् ।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७६॥
यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः ।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७७॥
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ।
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥९७८॥

मैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरोंसे पृथक् हूँ, मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, जिसके चित्तमें ऐसी भावना है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ जिसके देहादि नहीं है अर्थात् देह आदिमें अहंबुद्धि नहीं है, जिसको मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय है, जो परमानन्दपूर्ण है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा जिसका निश्चय है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥९७६-९७८॥

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥९७९॥

जीवन्मुक्त अवस्थाका त्यागकर अपनी देहके कालके वशीभूत होनेपर क्रियारहित पवनके समान ज्ञानी विदेहमुक्तिमें प्रवेश करता है ॥९७९॥

ततस्तत्संबभूवासौ यद्गिरामप्यगोचरम् ।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥९८०॥
विज्ञानं विज्ञानविदां मलानां च मलात्मकम् ।
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ॥९८१॥

अनन्तर यह योगी जो वाणियोंका अविषय है, जो शून्यवादियोंका शून्य है, जो ब्रह्म ज्ञानियोंका ब्रह्म है ॥ विज्ञानवादियोंका विज्ञान है, मलिन चित्तवालोंका मलरूप है, सांख्यदृष्टिवालोंका पुरुष है, योगवादियोंका ईश्वर है ॥९८०-९८१॥

शिवः शैवागमस्थानां कालः कालैकवादिनाम् ।
यत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत्सर्वहृदयानुगम् ।
यत्सर्वं सर्वगं वस्तु तत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥९८२॥

शैवागमपर आस्था रखनेवालोंका शिव है, केवल कालमात्रवादियोंका काल है, जो सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है, जो सब हृदयोंमें प्राप्त है, जो सर्व स्वरूप है, सर्वगत है, वह यथार्थ वस्तु है, वह विदेहमुक्त योगी उसमें स्थित है ॥९८२॥

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिन्त्यते ।
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद्विदेहो मुक्त एव सः ॥९८३॥

मैं ब्रह्म ही हूँ अथवा मैं चैतन्यस्वरूप ही हूँ, ऐसा भी चिन्तन नहीं किया जाता, केवल चैतन्यमात्ररूपसे जो स्थित हो वही विदेहमुक्त है ॥९८३॥

यस्य प्रपञ्चभानं न ब्रह्माकारमपीह न ।
अतीतातीतभावो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८४॥

इस अवस्थामें जिसको प्रपञ्चका भान नहीं है, ब्रह्माकार ज्ञान भी नहीं है, जो अतीतका अतीतभाव है वही विदेहमुक्त है ॥९८४॥

चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यावभासकः ।
चित्तवृत्तिविहीनो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८५॥

जो चित्तकी वृत्तिसे अतीत है, जो चित्तवृत्तिका प्रकाशक है, जो चित्तवृत्तिसे रहित है, वही विदेहमुक्त है ॥९८५॥

जीवात्मेति परमात्मेति सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
सर्वसंकल्पहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८६॥

यह जीवात्मा है यह परमात्मा है, जो इस प्रकारकी सब चिन्ताओंसे रहित है, समस्त संकल्प शून्यरूप है, वही विदेहमुक्त है ॥९८६॥

ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः ।
अवस्थात्रयहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८७॥

जो प्रणवके वाच्यार्थसे रहित रूप है, सब वाच्योंसे रहित है, जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंसे अतीतस्वरूप है, वही विदेहमुक्त है ॥९८७॥

अहिनिर्ल्वयनीसर्पनिर्मोको जीववर्जितः ।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते ॥९८८॥
एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते ।
प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ॥९८९॥

सर्पसे छोड़ी गई मृत काँचुली बांबीपर गिरी पड़ी रहती है, उसे सर्प अपनी कर नहीं मानता, वैसे आत्मज्ञानरूप अग्निसे अविद्यारूप कारण सहित मिथ्याज्ञानके नष्ट-बाधित होनेपर स्थूल और सूक्ष्म शरीरको अपनाकर नहीं मानता है ॥९८८-९८९॥

नेति नेतीत्यरूपत्वादशरीरो भवत्ययम् ।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयम् ॥९९०॥
विराड् हिरण्यगर्भश्चेश्वरश्चेति च ते त्रयम् ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥९९१॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
तूष्णीमेव ततस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किंचन ॥९९२॥

यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार रूप रहित होनेके कारण यह अशरीर-शरीर रहित होता है। व्यष्टि स्थूल शरीरोपहित चैतन्य विश्व, व्यष्टि सूक्ष्म शरीरोपहित चैतन्य तैजस और व्यष्टि कारणोपहित चैतन्य प्राज्ञ ये तीन, समष्टि स्थूल शरीरोंका अभिमानी विराट्, समष्टि सूक्ष्म शरीरोंका अभिमानी हिरण्यगर्भ और समष्टि कारण उपाधिका अभिमानी ईश्वर ये तीन, ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड, भू आदि

लोक क्रमसे अपनी-अपनी उपाधिके विलयसे ही प्रत्यगात्मामें विलीन हो जाते हैं। तदनन्तर मौन, मौन, मौन-शान्त है, परमात्मा ही सत्य है इसमें कोई संशय नहीं है ॥९९०-९९२॥

कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम् ।
किञ्चिद्भेदं न तस्यास्ति किञ्चिद्वापि न विद्यते ॥९९३॥

उस विदेहमुक्तका कालके साथ भेद, वस्तुभेद, देशभेद, अपना भेदक कुछ भी भेद नहीं है अथवा भेदवाली कोई भी वस्तु नहीं है ॥९९३॥

जीवेश्वरेति वाक्ये च वेदशास्त्रेष्वहंत्विति ।
इदं चैतन्यमेवेत्यहं चैतन्यमित्यपि ॥९९४॥
इति निश्चयशून्यो यो विदेहो मुक्त एव सः ।
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ॥९९५॥

वेद और शास्त्रोंमें और जीव एवं ईश्वर प्रतिपादक ऐसे वाक्योंमें इसप्रकार यह चैतन्य ही मैं हूँ, मैं चैतन्य हूँ, जो इस प्रकारके भी निश्चयसे शून्य है वही विदेहमुक्त है। वस्तुतः अथवा अवस्तुतः भी वह साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही है ॥९९४-९९५॥

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखात्मकम् ।
शान्तं च तदतीतं च परं ब्रह्म तदुच्यते ॥९९६॥

सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप वह ब्रह्म विद्याका विषय है, वह शान्त और उस अवस्था से अतीत है, वह परब्रह्म कहा जाता है ॥९९६॥

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मैव तद्विना ॥९९७॥

सब पदार्थोंका अपने कारणमें विलय ही अध्यात्म शास्त्रोंका सिद्धान्त है, केवल शान्त ब्रह्म ही है उसके बिना न अविद्या है और न माया है ॥९९७॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥९९८॥

ज्ञानी पुरुष अपने प्रिय जनोंमें पुण्यको और अप्रिय जनोंमें पापको छोड़कर ध्यान योगसे सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है। **तत्सुकृतेदुष्कृते धुनुते । तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम् । (कौषी १।४)** ॥९९८॥

यावद्यावच्च सद्बुद्धे स्वयं सन्त्यज्यतेऽखिलम् ।
तावत्तावत्परानन्दः परमात्मैव शिष्यते ॥९९९॥

हे सद्बुद्धिवाले शिष्य ! जितना जितना यह सारा प्रपञ्च स्वयं छूटता जाता है उतना उतना ही परमानन्दस्वरूप ही शेष रहता है ॥९९९॥

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ।
परे ब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ॥१०००॥

परब्रह्मवित् ज्ञानी, जहाँ जहाँ मृत्युको प्राप्त होगा वहाँ वह सदा परब्रह्ममें लीन हो जायगा, उसका उत्क्रमण इष्ट नहीं है । **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव संविलियन्ते'** (उस ब्रह्मवित्के प्राण (लिङ्गशरीर) इसे देहसे उत्क्रमण नहीं करते, किन्तु इसी देहमें ही अपने तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं) ऐसी श्रुति भी है ॥१०००॥

यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते ।
असंकल्पेन शस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा ॥१००१॥

जो जो अपनेको अभिमत प्रिय वस्तु है उसका त्यागकर मोक्षको प्राप्त होता है । जब संकल्प शून्यरूप शास्त्रसे यह चित्त छिन्न होता है ॥१००१॥

सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ।
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः ॥१००२॥
ज्ञातज्ञेयः संप्रणम्य सद्गुरोश्चरणाम्बुजम् ।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धनः ॥१००३॥

तब सर्वरूप, सर्वव्यापक शान्त ब्रह्म हो जाता है । शिष्य इस प्रकार गुरुके वाक्यों को सुनकर छिन्न संशय अथवा ज्ञातज्ञेय अर्थात् सन्देह रहित हो जानने योग्य वस्तुको जानकर सद्गुरुके चरण कमलोंको भलीप्रकार प्रणामकर वह गुरुसे आज्ञा लेकर बन्धन-मुक्त हो चला गया ॥१००२-१००३॥

गुरुरेष सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः ।
पावयन्वसुधां सर्वां विचचार निरुत्तरः ॥१००४॥

यह गुरु परमानन्दरूप समुद्रमें निमग्न मनवाले सम्पूर्ण वसुधाको पावन करता हुआ मौनभावसे विचरने लगा ॥१००४॥

इत्याचार्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम् ।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥१००५॥

इस प्रकार आचार्य और शिष्यके संवादरूपसे मुमुक्षुओंको सुखपूर्वक ज्ञान प्राप्तिके लिए आत्माका लक्षण-स्वरूप वर्णनकर दिया ॥१००५॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहनामकः ।
ग्रन्थोऽयं हृदयग्रन्थिविच्छित्यै रचितः सताम् ॥१००६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य ।
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः सम्पूर्णः ॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्त-सारसंग्रह नामक यह ग्रन्थ सत्पुरुषोंकी हृदयग्रन्थि-चिद्जड़-ग्रन्थिको नष्ट करनेके लिए रचा गया है ॥१००६॥

सत्यानन्दः परिव्राड् यमनियमरतो ब्रह्मविद्याप्रवीणो
जाह्नव्यां क्षालिताङ्घ्री स्मरहरनगरे सवसन्ज्ञानगेहे ।
भक्त्या शम्भुं प्रणम्य श्रुतिशिखरगिरां सर्वसिद्धान्तसार
ग्रन्थं व्याख्याति भव्यं सुगमजनगिरा मोक्षधीतुष्टिहेतोः ॥

जगद्गुरु श्रीमदाद्य शङ्कराचार्य विरचित सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

कृत

हिन्दी भाषा अनुवाद सहित समाप्त

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥